उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAPS-113
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन–II

खण्ड

1

गांधीवादी चिन्तन

इकाई 11

महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार

इकाई 12

गांधी का सामाजिक - आर्थिक दर्शन

इकाई 13

गांधी के आलोचक - सुभाषचन्द्र बोस, सावरकर

इकाई 14

महामना पं0 मदन मोहन मालवीय

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एल.डी. ठाकुर अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
प्रो. एस.एम. सईद राजनीतिशास्त्र विभाग लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. एस. के. द्विवेदी राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ	सम्पादक

लेखक मण्डल

खण्ड एक:	**डॉ. कमल कुमार**, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड दो:	**प्रो. आर.के. मिश्रा**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
खण्ड तीन:	**डॉ. वी.के. राय, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	4 इकाई
खण्ड चार:	**प्रो. सतीश कुमार**, राजनीति शास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी	4 इकाई
	डॉ. वी.के. राय, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	
खण्ड पाँच:	**डॉ. अशुतोष मिश्र, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

PEPE-118

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से कर्नल विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित २०२४.

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज.

खण्ड – 4 : गाँधीवादी चिन्तन का परिचय

महात्मा गाँधी (1869-1948) शास्त्रीय अर्थों में राजनीतिक चिन्तक या दर्शनकार नहीं थे। उन्होंने किसी सुनियोजित राजनीतिक व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया। उन्हें किसी स्थापित राजनीतिक विचारधारा का समर्थक भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह एक कर्मयोगी थे और इस तरह एक ऐसे मौलिक चिन्तक जो दार्शनिक मूल्यों या अवधारणाओं को अपने जीवन की प्रयोगात्मक कसौटी पर कसने के बाद स्वीकार करते हैं। वह एक सक्रिय राजनीतिज्ञ थे और दक्षिण अफ्रीका एवं भारत की तत्कालीन राजनीति उनकी प्रयोगशाला थी, जिसमें उन्होंने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह सम्बन्धी आदर्शों का प्रयोगिक परीक्षण किया। वस्तुतः गांधी जी ने राजनीति ही नहीं, अपने जीवन के समग्र व्यवहार को ही सत्य की प्रयोगशाला कहा। जीवन के प्रयोगों की कसौटी पर कसकर उन्होंने शास्वत मूल्यों का सन्देश दिया और ऐसी अनुभूतियों से पूँजीभूत दार्शनिकता को ही गांधीवाद कहा जा सकता है। हम भले ही गांधीवाद शब्द का प्रयोग कर लें, परन्तु गांधी स्वतः इसके पक्षधर नहीं थे। उन्होंने कहा था कि मैं किसी वाद का संस्थापक नहीं हूँ। मैं तो कुछ शास्वत मूल्यों का जीवन में प्रयोग कर रहा हूँ।

महात्मा गांधी भारत में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के महानायक थे। संघर्ष का लक्ष्य सुस्पष्ट बना रहे और संघर्ष पथभ्रष्ट नहीं हो जाय, इसलिये उन्होंने कुछ दार्शनिक मान्यतायें प्रतिस्थापित कीं। यह स्थापनायें कोई दार्शनिक कल्पना मात्र नहीं थीं, बल्कि महात्मा गांधी तो उन्हें प्रयोग की व्यवहारिक कसौटी पर कसने के उपरान्त ही स्वीकार करते थे। सत्य के आत्म साक्षात्कार तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन की अनुभूतियों पर आधारित गांधीवाद का इस प्रकार वैज्ञनिक स्वरूप प्रस्तुत होता है। गांधी पर दुनिया के सभी धर्मों की दार्शनिकता और समकालीन विचारधाराओं का प्रभाव था, लेकिन किसी विशिष्ट विचारधारा की सीमा में गांधी को बाँधना सम्भव नहीं। वस्तुतः महात्मा गांधी भारतीय और विश्वजनीन समकालीन सन्दर्भों में समान रूप से विराट समन्वय का प्रतीक महासागर थे, जिसमें अनेक नदियाँ समा जाती हैं। वैचारिक प्रवाहों के लिये मस्तिष्क खुला रखने के कायल महात्मा गांधी पर भारतीय मनीषा एवं चिन्तन परम्परा तथा पाश्चात्य चिन्तन का समान प्रभाव था। गांधी जहाँ वेद, उपनिषद्, गीता, जैन एवं बौद्ध दर्शन तथा भारतीय संत परम्परा से प्रभावित थे, वहीं उन्होंने इसाइयत, इस्लाम तथा रास्किन, थोरों एवं टालस्टाय आदि से भी प्रभाव ग्रहण किया था।

भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन ने सुधारवाद एवं पुनरोत्थानवाद की दोहरी चेतना को जन्म दिया। धर्मसुधार एवं समाजसुधार के क्षेत्र में आरम्भ इन पुनर्जागरण आन्दोलनों के राजनीतिक स्वरूप का प्रकटीकरण हुआ तो सुधारवादी चेतना के प्रतिनिधिस्वरूप उदारवादी राष्ट्रीयता का और पुनरोत्थानवादी चेतना के प्रतिनिधिस्वरूप सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद पर आधारित उग्र-राष्ट्रीयता का विकास होता है। इस दौर की मुख्य राजनीतिक संस्था भारतीय-राष्ट्रीय-कांग्रेस तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में यह दोनों राजनीतिक धारायें क्रमशः नरम-दल एवं गरम-दल के रूप में समानान्तर प्रवाहित होती हैं। इनमें चिन्तन पद्धति और कार्यक्रमों के टकराव के स्वर साफ थे, लेकिन इतिहास की धारा में महात्मा गांधी का अभ्युदय इन दोनों के समन्वय और संगम का प्रतीक बन जाता है। गांधीवाद और गांधी युग की राजनीति में दोनों धाराओं के उत्तमांश का गतिशील समन्वय तथा उनमें निहित वैचारिक जड़त्व का निषेध होता है। फलतः एक पुंजीभूत शक्ति एवं ऊर्जा के साथ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन अपने इतिहास के एक नये अध्याय के साथ राष्ट्रीय-जनान्दोलन बन जाता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के इस समूचे दौर पर गहरा प्रभाव डालने वाले गांधीवादी चिन्तन पर गांधी के राजनीतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले की आध्यात्मिक एवं नैतिक राजनीति की चेतना का पूरा प्रभाव था। नरम दलीय नेतृत्वकर्त्ता गोखले एवं नैरोजी को आर्थिक-राष्ट्रवाद की अवधारणाओं की छाप भी उस पर दृष्टिगोचर होती है। दूसरी ओर इन प्रभावों के साथ गोखले को गुरु मानने वाले गांधी जहाँ

लोकमान्य तिलक जैसे गरमदलीय नेता के स्वदेशी एवं बहिष्कार सरीखे ब्रिटिश सत्ता विरोधी सीधी कार्रवाई के कार्यक्रम अपनाते हैं, वहीं उनकी स्वराज्य, राष्ट्रीय शिक्षा एवं जनाधारवादी राजनीति की अवधारणाओं एवं शैली से भी प्रभावित नजर आते हैं। इस तरह इतिहास के प्रवाह में गांधी एवं गांधी-दर्शन रूपी संगम में नरम-दल और गरम-दल की वैचारिक रेखायें विलुप्त हो जाती हैं। ऐसे गांधीवादी चिन्तन में युग सन्दर्भ के अनुरूप समन्वयी गतिशीलता का गहरा पुट है।

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में, जब भारतीय राजनीति में महात्मा गांधी का अभ्युदय एवं गांधीवादी चिन्तन दृष्टि की निर्णायक लोकमान्यता स्थापित हो रही थी, विश्व राजनीति को तीन तरह के राजनीतिक प्रयोग उद्वेलित किये हुये थे। एक का सोवियत प्रयोग केन्द्रित निरंकुश सत्तावाद की प्राचीर पर खड़े होकर मानवता को आकृष्ट करने वाले समता के सुनहरे सपने बिखेर रहा था। दूसरी ओर पश्चिम में उगा लोकतन्त्र का सूर्य उन्मुक्त व्यापार की उदारवादी सोच से चलकर पूंजीवाद के अन्धेरे में फँसता नजर आ रहा था। इनसे अलग एक तीसरा प्रयोग भी शुरू हुआ फासीवाद का जो योरोप के एक हिस्से में लोकतन्त्र को आहत कर अधिनायकवाद के मरुस्थल में घिसटता नजर आ रहा था। पूंजीवाद की केन्द्रित उत्पादन प्रणाली और उससे उपजी केन्द्रित पूंजी की सत्ता अथवा केन्द्रित अधिनायक राजसत्ता के कोष से यह सभी प्रयोग पीड़ित थे। इसी दौर में गांधीवाद का एक चौथा प्रयोग भारतीय राजनीति एवं उसके मुक्ति संघर्ष में शुरू होता है, जिसनें इन तीनों की असंगतियों का समाधान प्रस्तुत करते हुये चिन्तन एवं प्रयोग का एक वैकल्पिक स्वरूप प्रदान किया। पूंजी एवं सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सहिष्णुता, सहअस्तित्व, सर्वोदय, साध्य एवं साधन की समान पवित्रता, आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना, उस पर आधारित लोकसत्ता तथा एक शोषणरहित समाज में व्यक्ति एवं समूह को सर्वांगीण विकास के अवसर की समानता जैसी अवधारणाओं ने गांधीवाद को एक मौलिक वैकल्पिक चिन्तन का रूप दे दिया। इन मूल्यों की प्रयोगशाला बना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन दुनिया के इतिहास का बेमिसाल स्वातन्त्र्य-जनान्दोलन बन गया।

गांधीवादी चिन्तन : अध्ययन का महत्व

गांधीवादी चिन्तन जहाँ समकालीन भारतीय राजनीति एवं राष्ट्रीय आन्दोलन पर सर्वाधिक गहरा प्रभाव डालने में सफल हुआ, वहीं तत्कालीन विश्व राजनीति के राजनीति वेत्ता भी उसका गम्भीर मूल्यांकन कर रहे थे। अहिंसा, सत्याग्रह, साध्य एवं साधन की पवित्रता, मानवीय बन्धुत्व एवं सःअस्तित्व तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के गांधीवादी मूल्यों की यह महत्ता एवं प्रासंगिकता गांधी के बाद भी उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। वस्तुतः गांधी जी ने इन आदर्शों के सहारे आधुनिक दुनिया को एक नयी दिशा दी, जिधर चलकर ही मानवता को सच्चे अर्थों में संरक्षित एवं संवर्धित किया जा सकता है। आज के अशान्त विश्व में तथा शस्त्र की अहंकारयुक्त प्रतिस्पर्धा एवं युद्ध की आतुरता से आक्रान्त विश्व में गांधीवाद का महत्त्व और बढ़ा है। आज की दुनिया में न केवल मनुष्य की असहिष्णुता उग्र होती जा रही है, बल्कि उसके चलते मानवता हिंसक आक्रामकता की विकृत हदों पर खड़ी है। हथियारों की होड़, धार्मिक एवं जातीय कट्टरवाद की उग्रता, बढ़ती आतंकवादिता के भयावह खतरों ने गाँधीवादी मूल्यों को और प्रासंगिक बना दिया है।

सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर टिकी राजनीति का जैसा चिन्तन एवं उस चिन्तन का जैसा प्रयोग महात्मा गांधी ने किया उससे भारतीय स्वतन्त्रता का संघर्ष दुनिया के मुक्ति संघर्षों का एक आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण बन गया। महात्मा गांधी ने एक पददलित, पराभूत एवं पराधीन राष्ट्र के आम आदमी की सुप्त आत्मा को जिस तरह नैतिक शक्ति के सहारे जगाकर अपने पैरों पर न केवल आत्मविश्वासपूर्वक खड़ा कर दिया, बल्कि स्वतन्त्रता के महान लक्ष्य की ओर दृढ़ता से कदम बढ़ाने की ऊर्जा से अनुप्राणित कर दिया, उसकी मिसाल दुनिया के इतिहास में नहीं

थी। फलतः सारी दुनिया के लिये गांधीवादी चिन्तन पर आधारित यह राजनीतिक प्रयोग कुतूहल एवं उत्सुकता का केन्द्र था। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने गांधीवाद का वैश्विक महत्त्व प्रतिस्थापित किया।

गंधीवादी चिन्तन ने आधुनिक राजनीति के मूल चरित्र को बदलने का प्रयास किया। छल, कपट, धूर्तता एवं राग-द्वेष से पीड़ित राजनीति को धरातल पर खड़ा किया। साध्य के साथ साधन की पवित्रता के संकल्प और भारत जैसी विराट जनसंख्या वाले देश के स्वातन्त्र्य जनसंग्राम में सत्याग्रह के साथ इस संकल्प के सफल प्रयोग ने गांधीवादी राजनीति की शैली को अप्रतिम महत्त्व प्रदान किया।

गांधीवाद ने जिस तरह भारतीय राजनीति में समकालीन समानान्तर चिन्तनधाराओं के बीच वैचारिक एवं राजनीतिक समन्वय स्थापित किया, नरम दल एवं गरम दल की लकीरों को मिटाकर एक पूंजीभूति राजनीतिक जनशक्ति का राष्ट्रव्यापी स्वरूप खड़ा किया और उस जनशक्ति के सहारे स्वतन्त्रता की महादेवी को आवाहित करने वाले संघर्षात्मक महायज्ञ की ज्वाला को उत्तेजित कर दिया, उसने भी गांधीवादी चिन्तनदृष्टि की महत्ता स्थापित की। दूसरी ओर तत्कालीन विश्व में चल रहे राजनीतिक प्रयोगों की दार्शनिकता का सकारात्मक विकल्प प्रस्तुत करते हुये जिस तरह गांधी जी ने मार्क्सवाद, पूंजीवादी-जनतंत्र एवं फासीवाद का वैचारिक प्रतिवाद किया उससे भी गांधीवाद का महत्त्व प्रतिष्ठापित हुआ।

गांधीवाद ने हमें एक व्यापक विश्वदृष्टि दी, जिससे मानव जीवन को मात्र राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक दृष्टि से देखने की जगह, समग्रता में देखने और विशेषतः नैतिक धरातल पर देखने की प्रेरणा मिली। मानव के समग्र जीवन के विकास एवं उत्कर्ष के इस अभिनव दृष्टिकोण ने व्यक्ति की गरिमा को स्थापित किया। दूसरी ओर उन्होंने केन्द्रित राजसत्तावाद को खारिज करते हुये समाज को महत्ता दी। वस्तुतः गांधी जी ने समाज-व्यवस्था, राजनीतिक संरचना एवं आर्थिक प्रणाली को नैतिक मूल्यों के धरातल पर जिस प्रकार विकसित करने का स्वप्न देखा, वह समूची मानवता को सुख, शांति एवं समृद्धि की ओर ले जाने में सहायक है। मानवीय विकास को इस तरह गांधीवाद ने जो दिशा दी, उसने गांधी के महत्त्व को भारत तक सीमित नहीं रखकर विश्वव्यापी बना दिया। गांधी के इस स्वरूप को इंगित करते हुये महान दार्शनिक डा0 राधाकृष्णन ने कहा कि "गांधी सदैव आध्यात्मिक एवं नैतिक क्रांति के ऐसे मसीहा के रूप में याद किये जायेंगे, जिसके बिना आज की भटकावग्रस्त दुनिया को शान्ति नहीं मिलेगी। गांधी के विलक्षण करिश्माई व्यक्तित्व एवं कृतित्व को रेखांकित करते हुये महान वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा कि "आने वाली पीढ़ियाँ यह विश्वास नहीं करेगी कि हाड़ मांस का कोई ऐसा मसीहा कभी पैदा हुआ था।"

गांधीवादी चिन्तन : आधार एवं उद्देश्य

अब हम यह देखेंगे कि गांधीवाद के चिन्तन के आधार एवं उद्देश्य क्या हैं? गांधी के चिन्तन के कुछ आधारभूत विश्वास हैं जो उसके लक्ष्य को भी निर्धारित करते हैं। गांधी इन आधारभूत आस्थाओं पर कभी समझौता नहीं करते।

धर्म एवं ईश्वर में विश्वास गांधीवादी चिन्तन का प्रथम आधार है। ईश्वर एवं धर्म की सत्ता पर अविचल आस्था के साथ गांधी पक्के आस्तिक थे। वह आस्तिक हिन्दू थे, लेकिन सार्वजनिक सन्दर्भ में वह धर्म की बात करते थे, तो उनका आशय नैतिक धर्म एवं आध्यात्मिक चेतना से था। वह मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का निवास है और आवश्यकता है उसे नैतिक शक्ति के सहारे जगाने की। फलतः वह जनसेवा को सबसे बड़ी आराधना और सच्चा धर्म मानते थे। गरीबों को उन्होंने दरिद्रनारायण की संज्ञा दी और उनकी सेवा को सच्चा धर्म बताया।

नैतिक शक्ति ही नियामक शक्ति है और वह मानवीय विकास का सही पथ प्रशस्त करती है, यह गांधीवाद का दूसरा वैचारिक आधार है। गांधी मानते हैं कि व्यक्ति चेतनशील प्राणी है, इसलिये उसका विकास कोई अचेतन भौतिक दुर्घटना नहीं, बल्कि चेतना सत्ता की सहज अभिव्यक्ति है। इस सन्दर्भ में गांधी की स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य में शुभ एवं अशुभ दोनों प्रवृत्तियों का वास होता है। व्यक्ति और व्यक्ति-समाज में इस शुभ एवं अशुभ प्रवृत्तियों का द्वन्द चलता रहता है और इस द्वन्द में शुभ की विजय अभीष्ट एवं श्रेयस्कर होती है, वही अनुकरणीय है। इस द्वन्द में ही जीवन का प्रवाह है और इस प्रक्रिया में शुभ की सिद्धि ही 'सत्य' है और इस सत्य का साक्षात्कार ही ईश्वर का साक्षात्कार है। इस शुभ रूपी सत्य की सिद्धि नैतिक शक्ति और आध्यात्मिक चेतना एवं आस्था के माध्यम से ही हो सकती है। अतः गांधीवादी चिन्तन नैतिक शक्ति को मानवीय विकास का नियामक एवं उत्प्रेरक तत्त्व मानता है।

सत्य और अहिंसा में गहरी आस्था गांधीवादी दर्शन का तृतीय आधार है जो नैतिकता की नियामक शक्ति में उसके अविचल विश्वास का स्वाभाविक परिणाम है। गांधी जहाँ सत्य को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हैं, वहीं उसे जीवन एवं कर्म की कसौटी मानते हुये अपने जीवन को सत्य के एक प्रयोग की संज्ञा देते हैं। सत्य के इस प्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है अहिंसा। अहिंसा की प्रेरणा गांधी को जहाँ भारतीय संस्कृति एवं चिन्तन परम्परा, पातंजलि, महाभारत, बुद्ध एवं महावीर तथा बाइबिल एवं टालस्टाय आदि से मिलती है, वहीं इस सन्दर्भ में उनकी अपनी एक मौलिक दृष्टि भी थी, जिसके आधार पर उन्होंने अहिंसा के प्रयोग को भारतीय राष्ट्रीय जनान्दोलन की विराट फलक वाली प्रयोगशाला में उतारा। गांधी की अहिंसा का दार्शनिक आधार व्यापक है। वह एक व्यक्तिगत आचरण या सार्वजनिक व्यवहार की कसौटी मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का आधार तथा मानवीय सभ्यता में सकारात्मक परिवर्तन एवं मानवोचित विकास की कसौटी है।

साध्य और साधन की पवित्रता का सम्बन्ध गांधीवादी चिन्तन का चतुर्थ आधार है। गांधी की स्पष्ट धारणा थी कि मानवीय विकास में अपवित्र एवं अनैतिक माध्यमों से पवित्र एवं नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि नहीं हो सकती। साध्य यदि पवित्र है, तो साधन भी अनिवार्यतः पवित्र होना चाहये। पवित्र साधनों के बिना सिद्ध हुआ साध्य टिकाऊ नहीं हो सकता। साम्यवाद के लक्ष्यों की उत्कृष्टता एवं महत्त्व को गांधी स्वीकार करते हैं, लेकिन जिस तरह हिंसा, अनैतिकता और निरंकुश एवं क्रूर सत्तावादिता के माध्यम से उन लक्ष्यों तक साम्यवाद पहुँचना चाहता है, उससे गांधी ने साम्यवादी प्रयोगों के पतन की भविष्यवाणी पहले ही कर दी थी। गांधी मानते हैं कि अहिंसा, प्रेम, सत्य और बन्धुत्व जैसे शाश्वत नैतिक मूल्यों एवं माध्यमों के सहारे ही मानवीय विकास के पवित्र लक्ष्यों की सफल साधना की जा सकती है।

समकालीन वैचारिक प्रभाव गांधीवादी चिन्तन का पाँचवां आधार था।—भारतीय परम्परा, संस्कृति एवं चिन्तन के साथ विभिन्न धर्मों का प्रभाव जहाँ गाँधी पर था, वहीं हर तरह के वैचारिक प्रभावों के लिये मस्तिष्क की खिड़कियाँ खुली रखने के कायल गांधी पर अपने युग के राजनीतिक विचारों का भी प्रभाव पड़ा था। उन पर पश्चिम के व्यक्तिवाद एवं उदारवाद का भी प्रभाव था, यद्यपि वह निरंकुश व्यक्तिवादी नहीं थे। वह लोककल्याणकारी राज्य और समाजवादी-व्यवस्था के कुछ आदर्शों को भी स्वीकार करते हैं, लेकिन राज्य की अत्यधिक भूमिका के विरुद्ध थे और टालस्टाय सरीखे अराजकतावादियों के भी वैचारिक दृष्टि से निकट थे। वह मानवीय स्वतन्त्रता के भी महान सन्देशवाहक थे। वह तत्कालीन राजनीतिक वातावरण से भी प्रभावित होकर साम्राज्यवाद, सामन्तवाद, मानवीय असमानता एवं शोषण तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जहाँ अपने चिन्तन को मूर्त रूप देते हैं, वहीं एक राजनीतिक योद्धा की संघर्षात्मक भूमिका में भी नजर आते हैं।

उद्देश्य के सन्दर्भ में गाधावादा चिन्तन उपर्युक्त वैचारिक आधारों से ही प्रभावित नजर आता है। चिन्तन के आधार ही चिन्तन के उद्देश्य को भी रेखांकित करते हैं।

गांधीवादी चिन्तन का प्रथम उद्देश्य अहिंसात्मक नैतिक समाज की स्थापना करना है। वह मानते थे कि सत्य और अहिंसा के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्ति का विकास ऐसे समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेगा। इसके लिये वह व्यक्ति की नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के पक्षधर थे। वह मानते थे कि ऐसा मनुष्य स्वतः दुर्भावना और संघर्ष से अलग रहने के साथ दूसरों को भी इस ओर प्रेरित करेगा।

गांधीवाद का दूसरा प्रमुख उद्देश्य था स्वतन्त्रता। वह व्यक्ति और समाज दोनों की स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। इस दृष्टि से वह व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानते थे। इस तरह यद्यपि एक व्यक्तिवादी की तरह गांधी ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थन किया, लेकिन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को समाज में ही सम्भव मानने के कारण वह सामाजिक अनुशासन की मर्यादा में उसकी संतुष्टि करते हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के महात्मा गांधी न केवल पक्षधर थे, बल्कि विश्व इतिहास में उसके लिये एक अप्रतिम संघर्ष कर्त्ता भी थे। वह राजनीतिक स्वतन्त्रता को आर्थिक एवं सामाजिक स्वतन्त्रता के बिना अधूरा मानते थे।

सर्वोदय को गांधीवादी चिन्तन का तृतीय प्रमुख उद्देश्य कहा जा सकता है। सर्वोदय का उद्देश्य एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन, शोषणविहीन समाज की संरचना करना है जो सत्य एवं अहिंसा पर आधारित हो तथा व्यक्तियों एवं उसके समुदायों को सर्वतोमुखी विकास के अवसर एवं संसाधन बिना भेदभाव के सुलभ कराये।

राजनीतिक और सामाजिक सुधार का सहअस्तित्व भी गांधीवादी चिन्तन का उद्देश्य था। वस्तुतः गांधी से पूर्व की भारतीय राजनीति में समानान्तर स्थापित रहे गरम दल एवं नरमदल का चिन्तन इस सन्दर्भ में अन्तर्विरोधी था। तिलक जैसे गरमदलीय नेता राजनीतिक सुधार अथवा स्वराज्य की तात्कालिकता को स्वीकार करते हुये मानते थे कि समाज सुधार स्वराज्य के बाद धीरे-धीरे चलता रहेगा। दूसरी ओर नरमदलीय सुधारवादी नेता समाज सुधार को राजनीतिक सुधार की पूर्व शर्त मानते थे। इन दोनों धाराओं से हटकर गांधीवाद की मान्यता यह थी कि समाज सुधार और राजनीतिक सुधार की प्रक्रिया भारत में साथ-साथ चलती रहनी चाहिये।

विलासिता की जगह सादगी पूर्ण नैतिक जीवन की महत्ता स्थापित करना गांधीवाद का पाँचवां उद्देश्य कहा जा सकता है। वह आडम्बरहीन प्राकृतिक जीवन की ओर मनुष्य की वापसी चाहते थे। वह यह भी चाहते थे कि व्यक्ति न केवल सादा जीवन जिये बल्कि चाहे उसका व्यक्तिगत जीवन हो अथवा सार्वजनिक जीवन, वह समाज रूप से शुचितापूर्ण होना चाहिये।

राजसत्ता और अर्थसत्ता का विकेन्द्रीकरण भी गांधीवाद का प्रमुख उद्देश्य था। गांधी ग्राम्य जीवन और ग्रामोद्धार के पक्षधर थे और ग्राम्यतंत्र की व्यवस्था में उन्होंने भारत की परम्परागत पंचायत प्रणाली का अनुमोदन किया। वस्तुतः वह राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व्यवस्था के विकेन्द्रित ढाँचे के पक्षधर थे। वह आर्थिक सन्दर्भ में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास करना चाहते थे, जिसमें व्यक्ति अपने को सम्पत्ति का स्वामी नहीं न्यासी एवं संरक्षक समझकर व्यवहार करे। वह शोषण के खिलाफ और सामाजिक न्याय के पक्षधर थे। आर्थिक क्षेत्र में उनका लक्ष्य व्यक्तिवाद नहीं, ट्रस्टीशिप की भावना पर आधारित आध्यात्मिक समाजवाद की स्थापना करना था। राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में उनका उद्देश्य शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर आधारित सच्चे लोकतंत्र की स्थापना करता था।

गांधीवाद का उद्देश्य धर्म आधारित राजनीति की स्थापना करना था, लेकिन यहाँ धर्म से उनका आशय नैतिक धर्म एवं आध्यात्म से है, न कि सम्प्रदायिक एवं कर्मकाण्डीय धर्म से। इसका महत्त्व वह व्यक्ति

जीवन में मानते हैं।

गांधीवादी चिन्तन : समस्यायें

गांधीवादी चिन्तन आदर्शात्मक, व्यवहारपरक तथा प्रायोगिक कसौटियों से जुड़ा चिन्तन है और उसकी सबसे बड़ी समस्या इन तीनों कसौटियों के बीच सम्यक तालमेल स्थापित करना प्रतीत होती है। गांधी का वैशिष्ट्य है कि वह आध्यात्मिक मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों से समझौता नहीं करते। जहँ सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार का स्वर गांधीवाद में है और वह समाज में ऐसे सुधार चाहते हैं जिससे समाज को उच्च नैतिक आदर्शों पर खड़ा किया जा सके, वहीं वह भारत में गहरी जड़ों वाले परम्परागत समाज की संरचना में गैरजरूरी छेड़छाड़ के विरुद्ध थे और एक व्यवहारिक यथार्थवादी के रूप में वर्ण-व्यवस्था को उसकी विकृतियों से मुक्त कर बनाये रखने के पक्षधर थे। दूसरी ओर अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं को वह स्वप्नलोकीय नहीं रखकर प्रायोगिक कसौटी पर कसकर प्रस्तुत करते हैं।

गांधीवादी चिन्तन जिस समस्या या चुनौती से सर्वाधिक प्रभावित होकर स्वरूप ग्रहण करता है, वह है राष्ट्रीय स्वाधीनता। गांधी भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के महानायक थे और इस रूप में वह दुनिया के सबसे बड़े और बेमिसाल स्वतन्त्रता आन्दोलन के मंत्रदृष्टा एवं अग्रणी सन्देशवाहक थे। भारतमाता के पांव में पड़ी बेड़ियों को तोड़ने का संघर्ष उनके जीवन का सबसे बड़ा अभीष्ट था और इस रूप में गांधीवादी चिन्तन की सर्वप्रमुख समस्या थी स्वतन्त्रता का संघर्ष कैसा हो और उसकी लोकचेतना को कैसे प्रदीप्त रूप दिया जाय।

गांधीवादी चिन्तन–भारत की राजनीतिक मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति की समस्या का भी चिन्तन है। सामाजिक भेदभाव, अस्पृश्यता, जातिभेद, सामाजिक अन्याय की प्रथाओं और भारतीय पिछड़ेपन की कारक सामाजिक कुरीतियों से मुक्ति का चिन्तन गांधी का चिन्ता की प्रमुख चुनौती था। वह सामाजिक अन्याय के साथ-साथ आर्थिक शोषण की संरचना को भी ध्वस्त करना चाहते थे।

महात्मा गांधी राजनीतिक मुक्ति, सामाजिक मुक्ति और आर्थिक मुक्ति को समान रूप से जरूरी मानते थे। उनका विश्वास था कि इनमें एक के बिना दूसरा अधूरा है। अतः गांधीवादी चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण समस्या इसमें प्राथमिकता के निर्धारण की थी। उस युग के नेताओं में राजनीतिक एवं सामाजिक मुक्ति के आन्दोलनों के बीच प्राथमिकता के प्रश्न पर गहरे मतभेद थे। निश्चय ही व्यवहार में राजनीतिक मुक्ति को गांधी के चिन्तन में प्राथमिकता मिली, लेकिन गांधी राजनीतिक एवं सामाजिक मुक्ति आन्दोलनों को साथ-साथ चलाने के पक्षधर थे और वह मानते थे कि राजनीतिक मुक्ति के बाद जहाँ सामाजिक मुक्ति के प्रश्न को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिये, वहीं उसके बाद आर्थिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य की दिशा में भी तेजी से कार्य होना चाहिये।

महात्मा गांधी जहाँ भारतीय राष्ट्रीयता से जुड़े महान संघर्ष के नेतृत्वकर्त्ता तथा भारत की राष्ट्रीय चेतना के महान शिल्पी थे, वहीं गांधीवादी चिन्तन में अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव एवं मानव मात्र के हित की चिन्ता विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है। उनके सार्वभौम मानवतावादी विचार उन्हें अन्तर्राष्ट्रीयतावादी के रूप में पेश करते हैं और इस तरह उनमें राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद का समान रूप से प्रखर स्वरूप प्रकट होता है। इसी के साथ गांधीवाद साम्राज्यवाद और फासीवाद के भी मुखर विरोध का चिन्तन है। इन वैचारिक आयामों के मध्य तर्कसंगत सामन्जस्य की समस्या का सार्थक उत्तर गांधीवादी चिन्तन में प्रस्तुत होता है।

गांधीवाद अपनी सैद्धान्ति प्रतिबद्धताओं के आधार पर युग-चेतना के विपरीत भी मुखर चिन्तन रहा है। औद्योगिकीकरण एवं पूंजीवादी विकास के दौर में वह इन युगानुरूप प्रवृत्तियों के मर्म पर प्रहार करता

है। इसी प्रकार साम्यवाद के दोषों पर भी वह चोट करता है। इस वैचारिक चुनौती चा समस्या को भी गांधीवादी चिन्तन स्वीकार करता है।

खण्ड –4 में चार इकाइयाँ हैं।

- प्रथम इकाई में गांधी के राजनीतिक विचारों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।
- द्वितीय इकाई में गांधी का सामाजिक एवं आर्थिक दर्शन सम्मिलित है।
- तृतीय इकाई में गांधी के आलोचक के रूप में सुभाष चन्द्र बोस और सावरकर के विचारों का वर्णन है।
- चतुर्थ इकाई में महामना मदन मोहन मालवीय के चिन्तन का प्रस्तुतीकरण है।

इकाई–11 : महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 राजनीतिक विचार

- 11.2.1 राज्य सम्बन्धी विचार
- 11.2.2 सरकार सम्बन्धी विचार
- 11.2.3 स्पराज - अर्थ और उसके आयाम
- 11.2.4 नैतिक राजनीति
- 11.2.5 सत्य और अहिंसा
- 11.2.6 सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध
- 11.2.7 सर्वोदय
- 11.2.8 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद
- 11.2.9 साम्राज्यवाद विरोध
- 11.2.10 धर्म और राजनीति

11.3 सारांश

11.4 उपयोगी पुस्तकें

11.5 सम्बन्धित प्रश्न

11.6 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गांधी के राजनीतिक विचारों पर टिप्पणी कर सकेंगे,
- गांधी की राजनीतिक रणनीति एवं कार्य शैली के वैशिष्ट्य तथा उसकी दार्शनिकता की विवेचना कर सकेंगे,
- एक राजनीतिक आन्दोलन के नेतृत्वकर्त्ता के रूप में यथा राजनीतिक चिन्तन के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में गांधीवाद का सम्यक मूल्यांकन कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

महात्मा गांधी के राजनीतिक विचार उनकी नैतिक निष्ठा एवं उनकी आध्यात्मिक आस्था से जुड़ी चिन्तन दृष्टि पर आधारित थे। उनकी मान्यता थी कि राजनीति कोई अभीष्ट साध्य नहीं, बल्कि एक साधन है

मन्य, न्याय और सदाचार पर आधारित समाज के समष्टिमूलक विकास का। राजनीति की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, बल्कि वह कुछ सुनिश्चित–नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि का माध्य है। गांधी जी राज्य को संगठित हिंसा पर आधारित संस्था मानते हैं और इसीलिये वह राज्य के स्वरूप को परिमार्जित करना चाहते थे, जिससे वह मानवता के श्रेयस्कर लक्ष्यों की सिद्धि में सहायक भूमिका निभा सके। गांधी पश्चिमी लोकतंत्र के विरुद्ध थे क्योंकि वह एक ओर शोषण पर खड़े पूंजीवाद का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक रहा है, तो दूसरी ओर अन्याय एवं आध्यात्मिकत्त्व की ओर ले जाने वाले फासीवाद का माध्यम बना। मार्क्सवादी प्रयोगों को उनके अच्छे लक्ष्यों के बावजूद गांधी इसलिये घातक मानते हैं कि उसमें निरंकुशता सत्तावाद के अनैतिक पथ का पथा वलम्बन किया गया है। अतः गांधी की स्पष्ट धारणा थी कि केन्द्रीकरण की राजनीतिक एवं आर्थिक प्रणाली वाली यह व्यवस्थायें मानवीय समाज को उन नैतिक उत्थान के निष्कर्षों तक नहीं ले जा सकतीं, जो अभीष्ट एवं अनुकरणीय लक्ष्य है और जिसके बिना सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। गांधी मानते हैं कि सच्चा लोकतन्त्र वह होगा जो 'बहुजनहिताय' नहीं, 'सर्वे-भवन्तु-सुखिनः' की भावना को साकार कर सके। वस्तुतः वह 'सर्वोदय' के पक्षपाती थे, जो राज्य के निरंकुश या बाध्यकारी स्वरूप से नहीं, सत्य एवं अहिंसा के सहारे अर्जित किया जा सकता है।

महात्मा गांधी नैतिक एवं आध्यात्मिक चेतना और सत्य एवं अहिंसा पर आधारित राजनीतिक आदर्शों के एक स्वप्नदृष्टा ही नहीं, प्रयोगकर्त्ता भी थे। अतः उनके राजनीतिक सिद्धान्त प्रायोगिक थे। दक्षिण अफ्रीका के उनके संघर्ष और भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन उनके राजनीतिक विश्वासों की प्रयोगशाला थे। अतः उनके विचार जहाँ उनके दार्शनिक विश्वासों पर आधारित थे, वहीं वह प्रयोगजन्य भी थे। वह राज्य और समाज के बीच समाज को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका यह भी मानना है कि धर्म और राजनीति के लक्ष्य एक समान हैं। वे व्यक्ति के नैतिक कल्याण एवं उत्कर्ष की सिद्धि में साधन है। उनका मानना है कि साधन भी साध्य की ही भाँति शुद्ध, पवित्र एवं नैतिक होना चाहिये। गांधी जी ने राज्य के ऐसे आदर्श स्वरूप की जो कल्पना की, उसे रामराज्य की संज्ञा दी। रामराज्य और सर्वोदय के आदर्शों के साथ-साथ गांधी जी की विचारधारा में द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर तक की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं के समाधान की दृष्टि भी शमिल है।

11.2 राजनीतिक सिद्धान्त

राजनीतिक सन्दर्भ में महात्मा गांधी की सैद्धान्तिक अवधारणायें राज्य, सरकार, व्यक्ति, समाज और धर्म आदि सभी आयामों से जुड़ी हुई हैं। उनके इस राजनीतिक चिन्तन के विविध बिन्दु इस प्रकार हैं–

11.2.1 राज्य सम्बन्धी विचार

महात्मा गांधी राज्य के केन्द्रित सत्तावाद अथवा उसकी बाध्यकारी सत्ता की अवधारणा के विरुद्ध थे। राज्य की सत्ता के स्थापित स्वरूप के प्रति इस निषेधात्मक रुख के कारण गांधी को दार्शनिक अराजकतावादी भी मान लिया जाता है। अहिंसा में अपनी प्रबल आस्था और नैतिक विश्वासों के कारण वह राज्य की दण्डकारी सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः वह राज्य के ऐसे स्वरूप के विरुद्ध एक अहिंसक समाज की स्थापना चाहते थे।

दार्शनिक आधार पर गांधी जी के राज्यविरोध का कारण यह है कि वह मनुष्य को मूलतः नैतिक प्राणी मानते थे और उन्हें यह विश्वास था कि मनुष्य की नैतिक शक्तियों को जागृत एवं उत्तेजित कर एक अहिंसक नैतिक समाज की स्थापना की जा सकती है, जिसमें राज्य की हिंसा एवं दण्ड की शक्तियों पर आधारित बाध्यकारी सत्ता की कोई आवश्यकता नहीं होगी। राज्य की सम्प्रभु सत्ता के अधीन व्यक्ति अपनी इच्छा का स्वतन्त्र क्रियान्वयन नहीं कर सकता। मात्र कानून एवं दण्ड की सत्ता के ...

से जब मनुष्य कार्य करेगा, न कि अपनी नैतिक प्रेरणा से, तो एक नैतिक एवं आहिंसक समाज का विकास नहीं हो सकता।

गांधी यह भी मानते थे कि राज्य की सत्ता का चरित्र अपनी शक्ति के विस्तार का होता है। यह स्थिति व्यक्ति के नैसर्गिक एवं नैतिक विकास के मार्ग का अवरोधन करती है। यह मनुष्य की शक्ति एवं उसके व्यक्तित्व की सम्भावनाओं के नैसर्गिक विकास को भी अवरुद्ध करती है।

गांधी जी यह मानते थे कि राज्य पाशविक बल पर टिकी संस्था है। अतः वह नैतिक शक्ति से च्युत सत्ता है जो व्यक्ति के विकास पर विपरीत प्रभाव डालती है। राज्य की केन्द्रित व्यवस्था का दोष यह है कि उसे हिंसा की शक्ति के बिना संगठित ही नहीं किया जा सकता और हिंसा का संगठित रूप होने के कारण राज्य मानवोचित संस्था नहीं है।

गांधी जी वस्तुतः एक ऐसे राज्यविहीन लोकतंत्र की स्थापना चाहते थे जिससे राज्य जैसी बाध्यकारी सत्ता व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्व विकास की राह में बाधक बनकर नहीं खड़ी हो। वह ऐसे लोकतंत्र के हिमायती थे जिसमें आध्यात्मिक विकास के लिये अपेक्षित व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुनिश्चित हो, तथा सामाजिक जीवन क़ानून की बाध्यकारी शक्ति की जगह नैसर्गिक रूप से नियमित एवं स्वचालित हो।

गांधी दल और सत्ता से बंधी 'राजनीति' की जगह उससे मुक्त 'लोकनीति' के पक्षधर थे। वह मानते थे कि सत्ता राजनीति शक्तिशाली राज्य का पथ प्रशस्त करती है, जबकि लोकनीति ऐसे स्वराज का रास्ता है जिसमें स्वतन्त्र व्यक्ति स्वयं अपना शासन करता है। ऐसे आत्मनियन्त्रित एवं स्वशासित व्यक्तियों के समाज में राज्य को सर्वोपरि मानने की धारणा के लिये कोई स्थान नहीं होगा। ऐसा स्वराज्य व्यक्ति के उत्तरदायित्व, आत्मनियंत्रण एवं स्वशासन से समाज में स्थापित होता है। ऐसे स्वराज्य आधारित समाज में व्यक्ति के नैतिक सद्गुणों का बिना राज्य-हस्तक्षेप के स्वतन्त्र विकास होता है। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता और व्यवस्था के मध्य तनाव एवं अन्तर्विरोध नहीं होता।

यद्यपि राज्य के विरुद्ध गांधी जी के मुखर विचारों से उन पर टालस्टाय के अराजकतावाद का पूरा प्रभाव प्रतीत होता है, तथापि यह कहा जा सकता है कि वह राजनीतिक व्यवस्था को पूरी तरह नकारते नहीं हैं, इसलिये सम्पूर्ण अराजकतावादी नहीं थे। सम्भवतः गांधी जी को यह आभास था कि एक अहिंसात्मक समाज का विकास भले हो जाय, लेकिन सम्पूर्णतः ऐसे अहिंसात्मक समाज का साकार होना व्यवहारिक नहीं है, जिसमें किसी व्यवस्था की आवश्यकता ही न हो। अतः वह मानते हैं कि अहिंसात्मक लोकतंत्र पर आधारित स्वराज में भी सामाजिक आचरण को विनियमित करने के लिये एक सरकार की आवश्यकता होगी, यद्यपि वह कम से कम शासन करेगी। इस रूप में उनके विचारों पर थोरो का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

11.2.2 सरकार सम्बन्धी विचार

महात्मा गांधी पश्चिमी लोकतंत्र और संसदीय प्रणाली के आलोचक थे। दूसरे ओर वह साम्यवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद और लोककल्याणकारी शासन की अवधारणाओं की भी आलोचना करते हैं। वह मानते हैं कि इन सब प्रणालियों में राज्य का शक्तिशाली और सत्तावादी स्वरूप प्रकट होता है और लोकतंत्र मात्र मतदान तक सीमित रह जाता है। वह मानते हैं कि किसी भी लोकतन्त्र में प्राप्त आम नागरिक की स्वतन्त्रता तत्त्वहीन है, जब तक कि राज्य व्यवस्था के निर्णयों में उसकी सहभागिता नहीं हो। इसके विपरीत जहाँ वह निर्णय प्रक्रिया केन्द्रित रूप में है, वहाँ सच्चा लोकतंत्र नहीं हो सकता। अतः पश्चिमी देशों के प्रतिनिधि प्रजातन्त्र सच्चे लोकतंत्र के प्रतीक नहीं हैं, जिसमें नागरिक

सामूहिक मतदान तक सीमित है। वह प्रतिनिधि तो चुनते हैं, लेकिन शासन के सहभागी नहीं हैं। उसमें बहुसंख्यक दल द्वारा अल्पसंख्यक के साथ अन्याय एवं भेदभाव की सम्भावना बनी रहती है।

गांधी जी के स्वराज में जिस अहिंसात्मक लोकतंत्र की मान्यता है, उसका आधार है लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण। वह इसके विरुद्ध थे कि राजनीतिक व्यवस्था के एक छोर पर राज्य हो और दूसरे छोर पर आम आदमी। वह मानते हैं कि बीच की रिक्तता को सहभागी लोकतान्त्रिक संस्थायें ही भर सकती हैं, जिसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं ग्राम सभायें। गाँव की इस सबसे छोटी इकाई से ही लोकतंत्र की शुरुआत होनी चाहिये, क्योंकि 'बीस व्यक्ति केन्द्र में बैठक लोकतंत्र का संचालन नहीं कर सकते'। ग्राम-सभा स्तर से आरम्भ लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति अपने से जुड़े सार्वजनिक विषयों के प्रबन्ध में भागीदार हो सकता है। ऐसी स्थानीय स्वशासन की संस्थायें केन्द्रीय शासन सत्ता की एजेण्ट नहीं होकर पूर्ण स्वायत्त शासकीय इकाइयाँ होगीं। इसी प्रकार प्रत्येक स्तर की संस्था अपनी अधिकार सीमा में पूर्ण स्वायत्त भूमिका निभायेगी।

शासन व्यवस्था के सन्दर्भ में गांधी जी की धारणा थी कि गांव स्वावलम्बी होंगे और स्थानीय स्तर पर सभी विषयों में उनके समर्थ अधिकार होंगे। ऊपर की जिला, प्रान्त एवं केन्द्र स्तर की इकाइयों के प्रतिनिधि सीधे जनता से निर्वाचित नहीं होकर निचली इकाइयों द्वारा चुने जायेंगे। आशय यह कि उच्च स्तरीय सभा के लिये प्रतिनिधि निम्न स्तरीय सभा चुने। इस तरह के विकेन्द्रित लोकतन्त्र के मूल में होगा आत्म-अनुशासित एवं स्वशासित व्यक्ति और ऐसी लोकतंत्रीय सत्ता के ढाँचे की मूल और महत्त्वपूर्ण इकाई ग्राम पंचायत होगी। गांधी जी जहाँ 18 वर्ष की न्यूनतम मतदाता आयु के पक्षधर थे, वहीं अधिकतम आयु की भी सीमा का निर्धारण चाहते थे। वह मानते थे कि सच्चे लोकतन्त्र में बहुमत को अल्पमत के प्रति उदार एवं दायित्वपूर्ण होना चाहिए।

11.2.3 स्वराज - अर्थ और आयाम

गांधी जी स्वराज के अवधारणा में स्वतन्त्रता के सभी आयाम निहित हैं। उनके लिये स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता का पर्याय नहीं है। स्वराज की अपनी अवधारणा में वह इसे आध्यात्मिक आत्मानुशासन और विवेक के नियन्त्रण में दायित्वपूर्ण आधार प्रदान करते हैं। वह मानते थे कि स्वतन्त्र होने के बावजूद व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। स्वराज व्यक्ति की स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन के बीच सामन्जस्य बनाता है। वह अधिकार के साथ कर्त्तव्य चेतना का भी समन्वय प्रशस्त करता है। यह चेतना सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, सेवा और सहकार के सद्गुणों से उद्भूत होनी चाहिये, न कि राज्य की दण्डात्मक शक्ति के भय से।

गांधी जी के अनुसार स्वराज के पाँच आयाम हैं। हिन्द स्वराज में इसे स्पष्ट करते हुये उन्होंने लिखा है कि इसका प्रथम आयाम है राजनीतिक मुक्ति, जिसका सीधा आशय है अंग्रेजी शासन से आजादी। दूसरा आयाम है–राजनीतिक स्वतन्त्रता, जिसमें स्वशासन एवं लोकतंत्र का आधार प्रस्तुत होता है। व्यक्ति स्वतन्त्र्य तथा विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता इस ढाँचे का हिस्सा है। तृतीय आयाम है आर्थिक स्वतन्त्रता। यह कार्य राजनीतिक मुक्ति और राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद भी राष्ट्र का लक्ष्य होगा और सही अर्थों में यह स्वराज की कसौटी होगा। चतुर्थ आयाम है सांस्कृतिक स्वतन्त्रता जिसका सीधा अर्थ है योरोप की भोगवादी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रभावों से भारत की मुक्ति। पाँचवां आयाम है आत्मानुशासन, जो स्वराज की कसौटी है। गांधी मानते थे कि मन और चित्त का नियंत्रण विवेक द्वारा होना चाहिये, जिसके अभाव में सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। आत्मानुशासन गांधी के लिये एक आध्यात्मिक साधना है, जिसका समर्थन उन्होंने भारतीय परम्परा के शाश्वत मूल्यों के सन्दर्भ में किया।

11.2.4 नैतिक राजनीति

गांधी राजनीति में नैतिक मूल्यों के प्रबल पक्षधर थे। इसमें उन पर अपने राजनीतिक गुरु गोखले का गहरा प्रभाव था। मेकियावेली के विपरीत वह राजनीति को साध्य नहीं, न्याय, सत्य एवं नैतिकता के आदर्शों का साधन मानते हैं। साध्य एवं साधना की समान शुचिता के कायल गांधी मानते थे कि नैतिकता रहित राजनीति पथभ्रष्ट होकर लक्ष्य से विमुख हो जाती है।

11.2.5 सत्य और अहिंसा

गांधी के अनुसार सत्य कर्म एवं व्यवहार की कसौटी है। सत्य का अर्थ है--आस्तित्व में होना। अतः शुद्ध सत्य काल, देश, परिस्थिति निरपेक्ष होता है। ऐसे सत्य का साक्षात्कार ही वस्तुतः ईश्वर का साक्षात्कार हैं। गांधी के लिये सत्य ही ईश्वर और जीवन सत्य का प्रयोग था। उनके अनुसार जीवन प्रवाह में शुभ और अशुभ का द्वन्द नियामक होता है, जिसमें शुभ की विजय अनुकरणीय एवं अभीष्ट शाश्वत सत्य है। इस सत्य का साक्षात्कार ही ईश्वर का साक्षात्कार है।

'सत्य' के साथ ही 'अहिंसा को भी गांधी मानवीय जीवन का आधारभूत तत्त्व मानते हैं। भारतीय संस्कृति की परम्परा में निहित अहिंसा के दर्शन में जहाँ उनकी गहरी आस्था थी वहीं पश्चिम के अहिंसावादी चिन्तकों का भी उन पर प्रभाव था। वह मानते थे कि सत्य रूपी साध्य का अन्वेषण अहिंसा रूपी साधन के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता।

गांधी किसी पर प्रहार नहीं करने को अहिंसा का सीमित, आंशिक या स्थूल निहितार्थ मानते हैं। वस्तुतः उनके चिन्तन में अहिंसा का अर्थ व्यापक है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों स्वरूपों में होनी चाहिये। आशय स्पष्ट है कि मन में कुविचार लाना, झूठ बोलना, किसी का बुरा चाहना, जगत के लिए जरूरी वस्तुओं पर एकाधिपत्य स्थापित कर लेना, शोषण करना आदि भी हिंसा है। हिंसा सदैव स्वार्थ, क्रोध एवं विद्वेष से उत्पन्न होती है। अतः इन सब बातों से मुक्त होना अहिंसा है। अहिंसा का वह स्वरूप अभीष्ट एवं अनुकरणीय होता है जो व्यक्ति के अन्तःकरण से स्वतः जागृत हो।

गांधी की अहिंसा कायरता नहीं, अपार शक्ति का स्रोत है। वह एक समग्र जीवन पद्धति है, जो व्यक्तिगत आचरण मात्र का विषय नहीं होकर सामाजिक बदलाव एवं सभ्यता के विकास का आधार है। वह सामाजिक जीवन की आधारशिला है। उसके अभाव में न तो पारिवारिक जीवन सम्भव है और न सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन।

महात्मा गांधी मानते हैं कि हिंसा का आधार विद्वेष और अहिंसा का आधार प्रेम होता है। अहिंसक व्यक्ति शत्रु से घृणा नहीं करता और उसके प्रति द्वेषभाव नहीं रखता। वह तो मात्र शत्रु की बुराई से घृणा करता है। अतः वह शत्रु नहीं, शत्रु की बुराई के विनाश का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह धैर्य का परिचय देता है और असफलताओं एस निराश न होकर पुनः प्रयत्न करता है। अतः अहिंसा निष्क्रियता या अकर्मण्यता नहीं, बुराइयों या अशुभ प्रवृत्तियों के प्रतिकार का सतत प्रयत्न है। अहिंसा का आश्रयी कभी अन्यायी से घबड़ाता नहीं। वह निर्भय होता है, क्योंकि वीरता भी अहिंसा का वैशिष्ट्य है। अत गांधी की स्पष्ट धारणा है कि अहिंसा कायरों का नहीं, वीरों का हथियार है। वह परम साहसी लोगों का सद्गुण है। जो साहसी एवं वीर नहीं उसमें आत्मबल नहीं होता और ऐसा व्यक्ति कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता।

गांधी के अनुसार अहिंसा में प्रेम का भाव निहित होता है और एक अहिंसक व्यक्ति विरोधी के प्रति भी प्रेमभाव से प्रेरित होता है। अहिंसा गांधी की इतिहास-दृष्टि का आधार है। वह मानते हैं कि मानव जाति का विकास अहिंसा का ही विकास है। यदि हिंसा विकास का आधार रहा होता तो मानक सभ्यतायें कब की विनष्ट हो चुकी होतीं। अतः इतिहास को मात्र युद्धों के इतिहास के रूप में देखना

गलत इतिहास दृष्टि है। अतः सभ्यताओं के विकास का वास्तविक आधार तो अहिंसा ही रहा है।

वस्तुतः गांधीवादी चिन्तन ने अहिंसा को व्यापक निहितार्थ प्रदान किया। गांधी के अनुसार मात्र जीव हत्या नहीं करना और किसी को शारीरिक आघात नहीं पहुँचाना ही अहिंसा नहीं है। एक मांसाहारी व्यक्ति भी अहिंसक और शाकाहारी व्यक्ति भी हिंसक हो सकता है। गांधी ने अहिंसा को एक व्यक्तिगत गुण तक सीमित नहीं रखकर उसे एक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ प्रदान किया।

महात्मा गांधी के अनुसार अहिंसा और सत्य निजी गुण नहीं हैं और यदि वह मात्र निजी गुण है तो त्याज्य है। गांधी जी मानते हैं कि हिंसा और अहिंसा दोनों में यद्यपि साहस का पुट है, लेकिन वस्तुतः दोनों में तात्विक भेद है। हिंसक उसकी रक्षा के लिये जहाँ हिंसा का प्रयोग करता है, वहीं अहिंसक संयम का। हिंसा से विरोधी के शरीर और स्थिति पर विजय प्राप्त की जा सकती है, लेकिन अहिंसा से शरीर और मन दोनों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कारण यह है कि आहिंसक व्यक्ति प्रेम और संयम से विरोधी पर विजय प्राप्त करता है।

11.2.6 सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध

महात्मा गांधी ने राजनीति में सत्याग्रह की अभिनव राजनीति का सफल प्रयोग किया। उनके अनुसार सत्याग्रह अन्याय एवं उत्पीड़न के विरुद्ध शुद्धतम् आत्मबल का प्रयोग है। सत्याग्रह में ऐसे आत्मबल से प्रेरित व्यक्ति सत्य का आग्रह करता है। सत्याग्रह की गांधी की अवधारणा में सत्याग्रह के अनिवार्य तत्व के रूप में सत्य, अहिंसा और प्रेम को स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि सत्याग्रह भिन्न है निष्क्रिय-प्रतिरोध से। गांधी के दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलनों में निष्क्रिय प्रतिरोध की रणनीति का प्रयोग हुआ, लेकिन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उन्होंने चंपारण से आरम्भ कर सत्याग्रह के प्रयोगों का सफल अनुकरण किया।

सत्याग्रह का उद्भव सत्य के सर्वोच्च आदर्श से होता है। सामान्यतः सत्याग्रह को अहिंसक प्रतिरोध की संज्ञा दी जाती है, लेकिन वस्तुतः सत्याग्रह अधिक व्यापक अर्थ समेटे हुये है।

वह भाग सविनय अवज्ञा, उपवास, धरना या प्रदर्शन नहीं है। वस्तुतः वह व्यक्ति की अन्तरात्मा में निहित आत्मशक्ति और प्रेमशक्ति की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। सत्याग्रह सत्य के लिए तपस्या है। कठोर और अत्यन्त विपरीत स्थितियों में भी अहिंसा एवं प्रेमभाव के साथ सत्य की आग्रहशीलता ही सत्याग्रह है। वस्तुतः यह भौतिक शक्ति के मुकाबले व्यक्ति की आत्मिक शक्ति का प्रयोग है। आत्मशक्ति, अहिंसा और सत्य के आग्रह में आत्मिक भावों का गहरा तादात्म्य है। सत्याग्रह नैतिक कसौटी से जुड़ा एक आध्यात्मिक विचार और व्यक्ति की आत्मा से उद्भूत होने के कारण उसका नैसर्गिक अधिकार है। अतः कहा जा सकता है कि सभी प्रकार के शोषण, उत्पीड़न, अन्याय, हिंसा और अत्याचार के विरुद्ध शुद्धतम् आत्मशक्ति का सक्रिय प्रतिरोध 'सत्याग्रह' है।

सत्याग्रह का प्रयोग व्यक्तिगत अन्याय और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध समान रूप से किया जा सकता है। एक सत्याग्रही अपने सामने वाले अन्यायी के विरुद्ध किसी व्यक्तिगत राग-द्वेष से रहित होकर अपनी अन्तरात्मा की आवाज का अनुसरण करता है और सत्य के लिये संघर्ष करता है। इस संघर्ष की राह में किसी भी शारीरिक यातना और मृत्यु के लिये भी वह संघर्ष तैयार रहता है। यातना के ऐसे क्षणों में भी वह किसी भी कीमत पर मन में द्वेषभाव नहीं लाता हूँ और हिंसा का आश्रम नहीं लेता।

एक सत्याग्रही हर हाल में अहिंसक होता है, द्वेषरहित होता है और उसके मन, वचन एवं कर्म में एकरूपता होती है। वह समाचार माध्यमों की सुर्खी में आने के लिये, किसी तरह के आत्मप्रचार के

लिये या किसी भी रूप में यश की कामना के लिए सत्याग्रह नहीं करता। वह ईश्वरनिष्ठ होता है और नेतृत्व के प्रति अनुशासनबद्ध रहता है। साथ ही झूठ, छल, कपट एवं लोभ से विरत रहने वाला होता है। उसके लिये जरूरी कसौटी है कि वह निर्भय हो, दृढ़निश्चयी हो, संकल्प का धनी हो, धैर्यवान हो और निष्ठावान हो। सत्याग्रही का व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन समान रूप से शुचितापूर्ण होता है। वह निजी एवं सार्वजनिक जीवन में समान रूप से अहिंसक होता है।

महात्मा गांधी मानते हैं कि सत्याग्रह के हथियार को बुद्धमत्ता एवं सावधानी के साथ प्रयोग करना चाहिये। सत्याग्रही को कठोर अनुशासन एवं नैतिक नियमों का पालन जरूरी है। सत्याग्रह अन्तिम विकल्प होना चाहिये। उसका प्रयोग सभी सम्भव शांतिपूर्ण तरीकों के विफल हो जाने के उपरान्त ही होना चाहिये। यह ध्यान रखा जाना चाहिये कि सत्याग्रह का उद्देश्य, जिसके विरुद्ध सत्याग्रह का प्रयोग हो रहा है, उसे पराजित करना नहीं, बल्कि उसका हृदय परिवर्तन करना होना चाहिये। सत्याग्रह का प्रयोग प्रत्येक शासन प्रणाली में हो सकता है। लोकतंत्र बहुमत से होते हैं और यदि बहुमत विपरीत हो तब भी सत्याग्रह का औचित्य हो सकता है। प्रायः बहुमत का संचालन दलगत हितों और तुच्छ विचारों से प्रेरित होता है। अतः ऐसा बहुमत सत्याग्रह के औचित्य पर प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता। सत्याग्रही को अपनी अन्तरात्मा से चलना चाहिये।

निष्क्रिय-प्रतिरोध भी सत्याग्रह से मिलती जुलती अवधारणा है, क्योंकि उसमें भी शस्त्ररहित अहिंसक प्रतिरोध होता है। इसके बावजूद उसे सत्याग्रह की संज्ञा इसलिये नहीं दी जा सकती कि क्योंकि उसमें अहिंसा का आधार दार्शनिक और आध्यात्मिक नहीं होकर मजबूरी जैसा है। गांधी जी ने निष्क्रिय, प्रतिरोध शब्द का प्रयोग अपने आन्दोलनों के संदर्भ में दक्षिण अफ्रीका में किया था।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप हो सकते हैं। उद्देश्यों की निजता के आधार पर व्यक्तिगत सत्याग्रह और सामूहिक सत्याग्रह के वर्गीकरण किये जा सकते हैं। व्यक्तिगत सत्याग्रह में सत्याग्रह का प्रयोग व्यक्ति द्वारा व्यक्तिगत उद्देश्यों के लिये होता है। इसके विपरीत सार्वजनिक सत्याग्रह का आयोजन समाज के लोगों द्वारा सार्वजनिक महत्त्व के मुद्दों पर होता है। सत्याग्रह चाहे व्यक्तिगत हो या सार्वजनिक उसके प्रयोग के भी कई रूप हो सकते हैं। इसका प्रथम स्वरूप है असहयोग। इसमें शासन या विरोधी शक्ति के साथ असहयोग कर उसकी शक्ति को कमजोर करना अभीष्ट होता है। दूसरा स्वरूप है उपवास या अनशन। इसका उद्देश्य स्वयं की आत्मशुद्धि अथवा अत्याचारी का हृदय परिवर्तन करना होता है। तीसरा स्वरूप है हड़ताल, जिसका उद्देश्य शासन या जनता का ध्यान आकृष्ट करना अथवा हृदय परिवर्तन करना होता है। चौथा स्वरूप है बहिष्कार। यह सत्याग्रह का प्रबल अस्त्र है। इसमें विरोधी का, उसकी वस्तु या उत्पादन का अथवा उसकी संस्थाओं का बहिष्कार कर उसके ऊपर दबाव डाला जाता है। सार्वजनिक रूप से किसी के बहिष्कार के निर्णय का उसके ऊपर बड़ा गहरा असर पड़ता है। सत्याग्रह का पाँचवां स्वरूप है धरना या प्रदर्शन। इसका उद्देश्य भी ध्यान आकृष्ट करना या नैतिक दबाव डालना है। सत्याग्रह का छठाँ स्वरूप है सविनय अवज्ञा। यह सत्याग्रह का एक ओजस्वी या प्रखर स्वरूप है। इसमें कानून विशेष या सम्पूर्ण शासन की विनय पूर्वक अवज्ञा द्वारा उनका विरोध होता है। इसका प्रयोग कर अहिंसक तरीके से शासन को ठप किया जा सकता है। 'सत्याग्रह' का सातवाँ स्वरूप हिजरत का है। इसका अर्थ है स्वेच्छया स्थान छोड़ देना। जहाँ दमन एवं अन्याय हो, वह स्थान स्वेच्छा से छोड़ देना और दूसरे स्थान पर जाकर सम्मान से रहना हिजरत है। 1928 में वारदोली, लिम्बली एवं जूनागढ़ तथा 1935 के कविथा के हरिजनों को गांधी जी ने सवर्णों के अत्याचार का प्रतिकार करने में हिजरत की सलाह दी थी।

11.2.7 सर्वोदय

महात्मा गांधी का सर्वोदय का सिद्धान्त पश्चिमी उपयोगितावाद के अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की अवधारणा के विपरीत भारतीय संस्कृति में निहित 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' के चिन्तन पर आधारित

सभी के अधिकतम् सुख की अवधारणा है। गांधी के अनुसार उपयोगितावादियों की 51% जनता के सुख तथा 49% के सुख की उपेक्षा की सोच अनैतिक, अव्यवहारिक और उपहासास्पद है। इसके विपरीत गांधी सर्वोदय को समाज का लक्ष्य मानते हैं। इसमें सबका कल्याण अभीष्ट है। सर्वोदय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को अभ्युदय का अवसर।

गांधी के अनुसार सर्वोदय का लक्ष्य एक ऐसे वर्गविहीन, जातिविहीन, शोषण विहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति एवं समूह को अपने सर्वांगीण विकास के साधन एवं अवसर उपलब्ध हों।.

सर्वोदय को एक पवित्र साध्य घोषित करते हुये गांधी ने कहा कि सर्वोदय का उद्देश्य अहिंसा एवं सत्य के आधार पर एक ऐसे वर्गविहीन एवं जातिविहीन समाज की स्थापना करना है जिसमें कोई किसी का शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का समुदाय को अपने सर्वांगीण विकास के अवसर एवं साधन सुलभ हो सकते हैं।

गांधी के सर्वोदय के तीन निहितार्थ हैं–

(i) सभी के हित में अपना हित,

(ii) सभी को आजीविका का अधिकार और सभी तरह के कार्यों का समान महत्त्व तथा

(iii) श्रम से जुड़े जीवन की उत्तमता का प्रतिपादन।

11.2.8 राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद

गांधीवादी चिन्तन में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का समान रूप से समावेश है। आधुनिक राष्ट्रवाद की अवधारणा से गांधी प्रभावित थे और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन जैसे विश्व के विशिष्ट राष्ट्रीय संघर्ष के नेतृत्वकर्त्ता के रूप में उनके चिन्तन एवं व्यवहार में प्रखर राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति होती है। इसके बावजूद गांधी उग्रराष्ट्रवादी कदापि नहीं थे। उनका राष्ट्रवाद आध्यात्मिक भावनाओं, नैतिक मान्यताओं, विश्वबन्धुत्व, धार्मिक एवं जातीय सहिष्णुता, सहअस्तित्व, सहयोग आदि जैसे उदात्त आदर्शों से जुड़ा हुआ था। अतः वह राष्ट्रभक्ति के ओज से परिपूर्ण तो था, लेकिन राष्ट्रभक्ति के अतिरेक एवं उग्र स्वरूप के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शांति में बाधक बनने की सम्भावनाओं से मुक्त था। इस तरह उनका राष्ट्रवाद विश्वबन्धुत्व एवं विश्वप्रेम का ही एक हिस्सा है और अन्तर्राष्ट्रवाद का पूरक है। उनके राष्ट्रवाद में भी अहिंसा का पुट है और उसमें किसी उग्रता के लिये कोई स्थान नहीं है।

प्रेम, अहिंसा एवं बन्धुत्व से परिपूर्ण राष्ट्र के साथ-साथ गांधी जी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के भी पक्षधर थे। वह वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय संस्कृति के अनुरूप चिन्तक थे। वह मानव मात्र को ईश्वर की सनतान मानते थे और इसलिये पूरी मानवता उनके लिये एक परिवार की भाँति थी। इस तरह उनके चिंतन में सार्वभौमवाद की अभिव्यक्ति होती है। वह मानते हैं कि राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं कि उनमें सहोयग एवं परावलम्बन का अभाव होना चाहिये। सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों में आस्था के कारण वह राष्ट्रों के मध्य सहयोग एवं मैत्री के पक्षधर थे। वह राष्ट्रवाद को वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रवाद की ही एक अवस्था मानते थे। अतः राष्ट्रवाद कोई राजनीतिक साध्य या राजनीतिक विकास की चरम अवस्था नहीं है। वह विश्व संघ के निर्माण से भी असहमत नहीं थे, यदि उसका निर्माण अहिंसा के आधार पर हो।

11.2.9 साम्राज्यवाद विरोध

महात्मा गांधी साम्राज्यवाद के प्रबल विरोधी थे। वह न केवल साम्राज्यवाद के विरुद्ध असन्तोष भड़काने को उचित समझते थे, बल्कि इसके विरुद्ध सत्याग्रही संघर्ष का उन्होंने प्रतिमान खड़ा किया। उन्होंने

साम्राज्यवाद के विरुद्ध चेतावनीपूर्ण शब्दों में कहा कि दूसरे देशों पर आधिपत्य जमाये रखने से स्वयं उन बड़े देशों का नैतिक चरित्र विनष्ट हो जायेगा। वह साम्राज्यवाद को जहाँ सम्पूर्णतः अनैतिक मानते थे, वहीं उन्होंने तिलक के इन विचारों का समर्थन किया कि स्वराज्य जन्मसिद्ध अधिकार है।

11.2.10 धर्म और राजनीति

महात्मा गांधी के चिन्तन का विश्लेषण करने से स्पष्ट है कि वह धर्म के दो पक्ष स्वीकार करते हैं–एक नैतिक धर्म और दूसरा संस्थागत धर्म। प्रथम को सामान्य धर्म और दूसरे को विशेष धर्म भी कहा जा सकता। वह नैतिक धर्म से राजनीति को सापेक्ष तथा संस्थागत धर्म से निरपेक्ष मानते थे। जब वह कहते हैं कि "धर्म के बिना राजनीतिक विधवा है" तो उनका अभिप्राय नैतिक धर्म से है, जिसके मूल्य सभी धर्मों में प्रायः साझे होते हैं। नैतिक मूल्यों एवं आध्यात्मिक चेतना से वह सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को अनुप्राणित करने के लिए अयत्नशील रहे। गांधी जी ने 22 सितम्बर 1946 को हरिजन में लिखा कि यदि मैं शासक होता तो "धर्म (रिलीजन) को राज्य से पूरी तरह अलग रखता। मैं अपने धर्म के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ हूँ। मैं उसके लिये प्राण दे सकता हूँ। लेकिन यह मेरा निजी मामला है, राज्य को इससे कुछ भी लेना देना नहीं है"। आगे उन्होंने लिखा कि "राज्य आपके धर्मनिरपेक्ष कल्याण (सेकुलर वेलफेयर), स्वास्थ्य, संचार, मुद्रा तथा ऐसे अन्य कार्यों पर ध्यान देगा, न कि आपके, हमारे धर्म पर यह तो हमारा आपका निजी मामला है"।

महात्मा गांधी किसी भी रूप में धार्मिक कट्टरता या उससे जुड़ी राजनीतिक सोच के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि "धर्म के लिये मरना अच्छा है, लेकिन धार्मिक कट्टरता के लिये जीना और मरना दोनों बुरा है"। वह धार्मिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे लेकिन उसके निरंकुशस्वरूप के प्रति आगाह करते हुये 18-2-1939 को उन्होंने यंग-इण्डिया में लिखा कि "धार्मिक स्वतन्त्रता एक अनुचित लाइसेन्स बन जाती है, जब वह दूसरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की कीमत पर प्रयोग में लायी जाने लगे अथवा नैतिकता एवं सुन्दरता का प्रतिवाद बन जाय"। उल्लेखनीय है कि गांधी जी के इन विचारों की प्रतिध्वनि हमें भारतीय संविधान के 25वें अनुच्छेद में स्पष्ट दिखायी देती है, जहाँ धार्मिक स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार का नियोजन करते समय उसे लोक व्यवस्था, स्वास्थ्य, सदाचार तथा अन्य मूल अधिकारों की मर्यादा से आबद्ध किया गया है।

11.3 सारांश

महात्मा गांधी के राजनीतिक विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने समकालीन विश्व में स्थापित राजनीतिक प्रयोगों या राजनीतिक चिन्तनधाराओं से हटकर मौलिक स्वरूप में अपने विचार सामने रखे। उन्होंने उन्हें प्रयोगात्मक कसौटियों पर भी कसा और सामान्यतः अव्यवहारिक प्रतीत होने वाली अपनी वैचारिक अवधारणाओं को बड़ी सहजता के साथ प्रयोगात्मक व्यवहार में उतारा। उन्होंने राजनीति में नैतिक मूल्यों, आध्यात्मिक चेतना, बन्धुत्वभाव, सहिष्णुता, मानवीय दृष्टि, अहिंसा एवं सत्य, सत्ता के विकेन्द्रीकरण, सत्याग्रह पर जोर दिया, जिसकी प्रासंगिकता सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक है। आज हिंसा, उग्रवाद और आणविक युद्ध की घनीभूत आशंकाओं से घिरे विश्व में गांधी जी के इन विचारों की राजनीतिक प्रासंगीकता दुनिया भर में स्वीकार की जा रही है। वह समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान के प्रबल विश्वासी थे।

गांधी जी ने राजनीति के प्रचलित चरित्र को बदलने और उसे मानवीय मूल्यों से जोड़ने का चिन्तन किया और उस चिन्तन को क्रियात्मक रूप देने की कोशिश की। नैतिकता का अभाव या क्षरण और धार्मिक कट्टरता की भावनायें राजनीति का असाध्य रोग बनी हुई हैं और उससे उपजी राजनीतिक समस्याओं के समाधान की राह निर्विवाद रूप से गांधीवाद से होकर गुजरती है। गांधी ने व्यक्ति की

स्वतन्त्रता एवं गरिमा को उत्कर्ष प्रदान किया और राज्य की निरंकुशता से मुक्ति का मार्ग बताया। अहिंसा की शक्ति का उन्होंने मर्म समझाया और उसे एक अपरायेज शक्ति के रूप में स्थापित किया। फलतः विश्व में उनके राजनीतिक चिन्तन एवं दृष्टिकोण को विशिष्ट महत्ता प्राप्त हुई।

11.4 उपयोगी पुस्तकें

1. वी0पी0 वर्मा : माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट
2. वी0 पी0 वर्मा : दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी
3. डी0 एम0 दत्त : दि फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी

   लक्ष्मी नारायण अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
4. आर0 रोलेण्ड : महात्मा गांधी
5. J. Bando Padhya, Social & Political Thought of Gandhi, Allied Publisher Bombay, 1969.
6. Thomas Pantham & Keneth V. Deutch, Political Thought in Modern India, Sage Publication, N. Delhi, 1986.
7. Bhikhu Parekh : Gandhi's Political Philosophy : A Critical Assesment Thandnills, 1980.
8. R.N. Ayer : The Moral and Plitical Thought of Mahatna Gandhi N. Delhi, 1983.

5\. Bhikhu Parkh : Gandhi's Political Philosophy, Macmillan, London, 1989.

11.5 : सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गांधी जी के राजनीतिक विचारों के स्रोत एवं वैशिष्ट्य का वर्णन करें।
2. राज्य एवं सरकार सम्बन्धी महात्मा गांधी की अवधारणा स्पष्ट करें।
3. महात्मा गांधी के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों का वर्णन करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अहिंसा गांधी जी के विचार स्पष्ट करें।
2. धर्म और राजनीति के सम्बन्धों के प्रति महात्मा गांधी का दृष्टिकोण क्या था?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से क्या सही नहीं है?
   (a) गांधी राजनीति में नैतिक मूल्यों के पक्षधर हैं,
   (b) गांधी राजनीति के साध्य नहीं नैतिकता के आदर्शों का साधन समझते हैं
   (c) गांधी सत्य और अहिंसा के समर्थक हैं।
   (d) गांधी सत्ता-परक राजनीति का समर्थन करते हैं।
2. गांधी किस विचारधारा के समर्थक हैं?

(a) सर्वोदय

(b) उपयोगितावाद

(c) समाजवाद

(d) साम्यवाद

12.7 प्रश्नोत्तर

1. (a)

2. (a)

इकाई–12 : गांधी का सामाजिक-आर्थिक दर्शन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 गांधी का सामाजिक दर्शन

- 12.2.1 अस्पृश्यता निवारण
- 12.2.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन
- 12.2.3 महिला उत्थान
- 12.2.4 साम्प्रदायिक एकता
- 12.2.5 धर्म सम्बन्धी विचार

12.3 गांधी का आर्थिक दर्शन

- 12.3.1 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त
- 12.3.2 विकेन्द्रीकरण
- 12.3.3 प्रतिस्पर्धात्मक मशीनीकरण का विरोध
- 12.3.4 खादी, ग्रामोद्योग एवं आर्थिक स्वावलम्बन
- 12.3.5 गांधी जी और समाजवाद
- 12.3.6 ग्राम-विकास

12.4 साराँश

12.5 उपयोगी पुस्तकें

12.6 सम्बन्धित प्रश्न

12.7 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- गांधी का सामाजिक दर्शन, उनकी अस्पृश्यता निवारण, वर्ण व्यवस्था, महिला उत्थान, साम्प्रदायिक एकता तथा धर्म संबंधी विचारों की विवेचना कर सकेंगे,
- गांधी का आर्थिक दर्शन, उनकी ट्रस्टीशिप का सिद्धांत, विकेन्द्रीकरण, प्रतिस्पर्धात्मक मशीनकरण का विरोध, खादी ग्रामोद्योग एवं आर्थिक स्वालम्बन की विवेचना कर सकेंगे,
- गांधी के समाजवाद तथा ग्राम विकास का उल्लेख कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

महात्मा गाँधी मानते थे कि भारतीय और पश्चिमी समाज समान रूप से अनेक दोषों से ग्रसित हैं। अतः वह समाज में सुधारों की आवश्यकता स्वीकार करते थे, यद्यपि किसी समाज के ढाँचे में उसकी मौलिक प्रकृति के विपरीत अनावश्यक छेड़छाड़ को भी उचित नहीं समझते थे। वह व्यक्ति को समाज की इकाई मानते थे और उनका विश्वास था कि व्यक्ति के सुधार से समाज का सुधार स्वतः प्रशस्त होगा।

महात्मा गांधी का विश्वास था कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व्यवस्था में परस्पर निर्भर हैं। उनका अभिमत था कि समाज के सुधार के लिये जहाँ व्यक्ति का सुधार जरूरी है, वहीं समाज के स्वस्थ विकास से राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था का सुधार भी सम्भव होगा। वह राज्य नहीं समाज को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके सर्वोदय का लक्ष्य भी ऐसे शोषणविहीन समाज की स्थापना या जिसमें व्यक्ति अपने सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त कर सके।

गांधी नीतिमूलक समाज चाहते थे। उनका विश्वास था कि सत्य-अहिंसा को हथियार बनाने से ही उसकी सिद्धि होगी। इससे समाज में विषमता, दुर्भावना, संघर्ष एवं युद्ध का अंत होगा और कर्त्तव्यबोध जगेगा। फलतः व्यक्ति मात्र अपने अधिकारों के लिये ही नहीं, दूसरों के अधिकार के लिये भी जागरूक एवं सचेष्ट होगा। वह सामाजिक शोषण का अंत चाहते थे, लेकिन अहिंसा के रास्ते। वह प्रेम, दया, करुणा आदि मानवीय मूल्यों के सहारे अन्याय, उत्पीड़न एवं शोषण के वजूद को मिटा देना चाहते थे। अतः उनके सामाजिक दर्शन में जहाँ करुणा का सन्देश है, वहीं स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार और निर्भयता का उद्घोष भी। एक व्यक्ति भी अन्याय के प्रतिकार में आगे बढ़ सकता है, यदि वह सत्य, अहिंसा एवं नैतिकता के बल से लैस हो। उनके समाज दर्शन में इस तरह व्यक्ति की आत्मा के अमरत्व का सन्देश है। एक पराधीन एवं पराभूत राष्ट्र में सुप्त पड़े आम आदमी को ऐसे ही उसकी आत्मा से झकझोर कर उन्होंने जागृत खड़ा कर दिया और स्वतन्त्रता के महान लक्ष्य की ओर डग भरने की चेतना प्रदान कर दी।

उदारवादियों एवं उग्र राष्ट्रवादियों के नरमदलीय एवं गरमदलीय वैचारिक द्वन्द में समाजसुधार एवं राजनीतिक सुधार की प्राथमिकता को लेकर मतभेद का स्वर स्पष्ट था। गांधी जी ने इसका पटाक्षेप कर दोनों की प्राथमिकता के दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। जब देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली तो उन्होंने उसे सामाजिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना अधूरा करार दिया।

12.2 गांधी का सामाजिक दर्शन

महात्मा गांधी के सामाजिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण विविध बिन्दु अधोलिखित हैं–

12.2.1 अस्पृश्चता निवारण

महात्मा गांधी हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की व्याप्त बुराई को एक सामाजिक कोढ़ मानते थे और उन्होंने जीवनपर्यन्त उसका घोर विरोध किया। इसे वह समाज एवं राष्ट्र की एकता का सबसे बड़ा अवरोध और सभ्य समाज के लिये शर्मनाक मानते थे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि अस्पृश्यता का धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है और यदि ईश्वर अस्पृश्यता को स्वीकार करता है तो वह ऐसे ईश्वर को स्वीकार नहीं कर सकते। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहा और स्पषट किया कि अछूतपन की बुराई के कायम रहते स्वराज्य अर्थहीन है। उन्होंने इस बुराई पर चोट करने के लिये ही हरिजन मन्दिर प्रवेश के आन्दोलन चलाये। तात्कालिक परिवेश में इन आन्दोलनों का क्रांतिकारी महत्त्व था। वह हरिजनों के

पूजा, यज्ञादि में भाग लेने के आंदोलन भी चलाते रहे। हरिजनों के समान नागरिक अधिकार का भी उन्होंने समर्थन किया। उन्होंने हरिजनों को सार्वजनिक स्थानों पर प्रवेश दिलाया। हरिजनों को शेष हिन्दू समाज से अलग करने के लिये उन्हें पृथक निर्वाचक मण्डल प्रदान किये जाने की अंग्रेजों की भेद डालो और राज करो की एक और कुटिल चाल का उन्होंने विरोध किया। वह अस्पृश्यता का अंत चाहते थे न कि अस्पृश्य समाज को अलग-थलग कर उन्हें स्थायी रूप से अस्पृश्य बनाना। उनके विरोध के कारण ही अंग्रेजों की चाल नाकाम हुई और गांधी एवं अम्बेडकर के बीच पूना-पैक्ट के बाद हरिजनों के लिये सीट आरक्षण की नीति स्वीकार की गयी। गांधी जी ने अछूतों को आत्मसम्मान का पाठ पढ़ाया। हरिजन बस्तियों में उन्होंने रहना आरम्भ किया। उनकी सेवा हेतु हरिजन सेवक संघ की स्थापना की। हरिजनों को बुरी आदतें त्याग करने की भी सलाह दी और उन्हें स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वालम्बन के लिये प्रेरित किया।

12.2.2 वर्ण व्यवस्था का समर्थन–

महात्मा गांधी अस्पृश्यता, जातिभेद आदि के जहाँ घोर विरोधी थे, वहीं उन्होंने वर्ण व्यवस्था का समर्थन किया। वह इसे सामाजिक संरचना के यथार्थ के रूप में वांछनीय मानते थे। वस्तुतः गांधी वर्ग व्यवस्था में विश्वास रखते थे और भारतीय वर्ण व्यवस्था को उसी का एक रूप मानते थे। वह मानते थे कि भारत में वर्ण व्यवस्था की जड़ें गहरी हैं, और इससे मुक्ति सामाजिक अव्यवस्था का कारण बन सकती है। वह मानते हैं कि मनुष्य कुछ स्वाभाविक योग्यताओं के साथ पैदा होता है और इसी आधार पर वर्ण व्यवस्था नियोजित है। वर्ण व्यवस्था कार्य विशेषीकरण और जीविका के साथ जुड़ी है। इसमें आनुवंशिक संस्कारों का लाभ उठाया जाता है और उसके अनुरूप कार्य निर्धारण से समाज में प्रतियोगिता का निदान होता है।

महात्मा गांधी कर्म एवं आजीविका से जुड़ी वर्ण व्यवस्था को ऊँच-नीच के लिये स्वीकार करने के खिलाफ थे। वह मानते थे कि वर्ण बदल भी सकता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध पेशे से है। दूसरी ओर आरम्भिक रूप से वर्ण निर्धारण में वह जन्म का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। वह वर्ण व्यवस्था का समर्थन तो कहते हैं, लेकिन किसी भी रूप में भेदभाव एवं शोषण के लिये नहीं।

गांधी जी ने वर्ण व्यवस्था का भले इस प्रकार समर्थन किया हो लेकिन वह जाति-प्रथा के विरुद्ध थे। उन्होंने हर प्रकार के जातिगत भेदभाव का विरोध किया और उसे मानवीय न्याय के विरुद्ध, सभ्य समाज के लिये कलंकपूर्ण माना और समाप्त कर दिये जाने की हिमायती की।

12.2.3 महिला उत्थान–

सामन्ती प्रभावों से परिपूर्ण तत्कालीन समाज में नारी भी जबर्दस्त भेदभाव एवं अन्याय का शिकार थी। महिलाओं के प्रति व्यक्ति एवं समाज का व्यवहार मध्यकालीन सोच से प्रेरित था। सती प्रथा जैसी कुरीति के उन्मूलन की दिशा में कुछ ठोस सामाजिक प्रगति तो हुई थी, लेकिन महिलायें बाल-विवाह, बहुविवाह, पर्दा-प्रथा, देवदासी प्रथा, बाल वैधव्य जैसी त्रासदी-पूर्ण कुरीतियों से आक्रान्त जीवन के लिये मजबूर थीं। गांधीवादी चिन्तन में इन बुराइयों पर प्रहार के साफ स्वर सुनायी देते हैं। गांधी चिन्तन में स्त्री एवं पुरुष को समान स्तर प्रदान किया गया है।

महात्मा गांधी मानते थे कि नारी में चारित्रिक एवं नैतिक शक्ति पुरुष से ज्यादा है। अतः वह अधिक आत्मबल का परिचय दे सकती हैं। जरूरत नारी में इस शक्ति को जागृत करने की है। वह मानते थे कि नैतिक शस्त्र का प्रयोग महिलायें अधिक समर्थ दक्षता के साथ कर सकती हैं। उनमें त्याग, प्रेम एवं अहिंसा की शक्ति भी अधिक होती है। अतः वह सत्याग्रह की अधिक शक्ति से सुसज्जित होती हैं। आवश्यकता मात्र यह है कि महिलायें हीन भावना का परित्याग कर आत्मविश्वास एवं आत्मशक्ति

का आश्रय लेते हुये आगे बढ़ें।

गांधी ने पर्दाप्रथा का विरोध किया और स्त्री शिक्षा पर जोर दिया। उन्होंने महिलाओं के पारिवारिक उत्तरदायित्व को भी महत्त्व दिया, क्योंकि वह मानते थे कि स्त्रियाँ पूरे परिवार की सर्वश्रेष्ठ शिक्षक होती हैं। वह मानते थे कि स्त्रियों को जिन कुरीतियों से जकड़ कर समाज ने रखा है, उससे स्वतन्त्रता एवं समानता के शब्द निरर्थक हो जाते हैं।

गांधी ने स्त्री शिक्षा के साथ ही स्त्री मताधिकार, स्त्रियों के लिये स्वतन्त्रता एवं समता के अधिकार, विधवा पुनर्विवाह, दहेज निषेध आदि का समर्थन किया।

12.2.4 साम्प्रदायिक एकता

अंग्रेज शासकों ने भारतीय समाज में साम्प्रदायिक आधार पर भेद डालने की जिस नीति का आश्रय लिया, उसके कुपरिणाम के रूप में प्रस्तुत साम्प्रदायिकता का महात्मा गांधी ने आजीवन विरोध किया। वह सम्प्रदायवाद के जहर को भारतीय समाज में निर्मूल करना चाहते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं भाईचारे में उनकी गहरी आस्था थी। वह धर्म के ऐसे स्वरूप के करता हो। गांधी जी ने साम्प्रदायिकता विरोध की वेदी पर अपने प्राणों का भी बलिदान किया।

12.2.5 धर्म सम्बन्धी विचार–

महात्मा गांधी धर्मों की तात्विक एकता में विश्वास रखते थे। वह धर्म को मानव समाज के शास्वत तत्व के रूप में देखते थे। वह धर्म को संकुचित कर्मकाण्डीय स्वरूप में नहीं देखते थे। वह धर्म के नैतिक मूल्यों के कायल थे और यह मानते थे कि इस सन्दर्भ में विश्व के धर्मों के बीच तात्विक एकता विद्यमान है! वह सार्वभौम मानव धर्म के पक्षधर थे और सभी धर्मों के श्रेष्ठ मूल्यों में उनकी आस्था थी। वह धर्म को सर्वकल्याण का माध्यम मानते थे और उनके विभाजक या आक्रामक प्रयोग के विरुद्ध थे। वह हिन्दू धर्म में गहरी आस्था रखते थे, लेकिन इसाई धर्म से भी अत्यधिक प्रभावित थे। कुरान और इस्लाम का भी उन पर प्रभाव था। वह सभी धर्मों के गम्भीर अध्येता थे। वह मानते थे कि विश्व के सभी धर्मों की मूल शिक्षा एक जैसी है। वह दया, सत्य, प्रेम, करुणा, उदारता, बन्धुत्व, सद्-आचरण, सद्भाव, अहिंसा की समान रूप से शिक्षा देते हैं। गांधी जी धर्म परिवर्तन के खिलाप थे। उनके आश्रम में सभी धर्मों के अनुयायी रहते थे और वह अपने-अपने विश्वास के अनुसार उपासना या प्रार्थना करते थे। गांधी जी ने किसी को कभी भी धर्म परिवर्तन के लिये प्रेरित नहीं किया। जब सभी धर्मों की मूल शिक्षा एक है, तो धर्म परिवर्तन का कोई कारण नहीं हो सकता।

महात्मा गांधी आध्यात्मिक चेतना से आनुप्राणित समाज चाहते थे। ईश्वर में उनकी अविकल निष्ठा थी। उनका गहरा विश्वास प्रार्थना में था। प्रार्थना के समय उनके आश्रम में कोई भी चल रहा महत्त्वपूर्ण कार्य स्थगित हो जाता था। वह मानते थे कि प्रार्थना से मन को शान्ति भी मिलती है और शक्ति भी। प्रार्थना की शक्ति में जहाँ उनका अटूट विश्वास था, वहीं प्रार्थना उनको दिनचर्या का सुनिश्चित एवं अभिन्न हिस्सा थी।

गांधी धर्म को समाज में प्रयोग करने के पक्षधर थे। निर्जन पर्वतों पर एकान्त में उपासना एवं तप वाले महात्मा वह नहीं थे। वह एक रामभक्त वैष्णव थे, जिन्होंने लाखों लोगों को रामभक्ति के लिये अपने आचरण से प्रेरित किया और उनको साथ लेकर प्रार्थना करते रहे। गांधी जी ने धर्म की भावनाओं का प्रयोग समाज में किया। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति में वह ईश्वर का अंश देखते थे, वहीं गरीब, असहाय एवं पीड़ित लोगों की सेवा को सबसे बड़ी उपासना और सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। दरिद्र व्यक्ति में वह ईश्वर के सबसे प्रखर रूप का दर्शन करते थे और दरिद्रनारायण की सेवा को ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट उपासना समझते थे। इस तरह उनके धार्मिक विश्वास मनुष्य और समाज की सेवा के लिये प्रेरणा देते

हैं। धर्म के नाम पर आडम्बर एवं पाखण्ड का उन्होंने सदैव विरोध किया।

12.3 गांधी का आर्थिक दर्शन

महात्मा गांधी के आर्थिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण विविध बिन्दु अधोलिखित हैं–

12.3.1 ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त

महात्मा गांधी आर्थिक सन्दर्भ में ट्रस्टीशिप या संरक्षकता के सिद्धान्त के अनुयायी थे। इसे वह आर्थिक विषमता के प्रतिकार का नैतिक साधन मानते थे। वह निजी सम्पत्ति के अधिकार के पक्षधर थे, लेकिन सम्पत्ति के निरंकुश मालिकाने की अवधारणा के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि यदि किसी को उसके उपभोग की आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली या उसने उसे व्यापार से कमाया है तो वह उस सम्पत्ति का मालिक नहीं न्यासी या ट्रस्टी है। अतः व्यक्ति अपने को उसका स्वामी नहीं समझकर न्यासी भावना से काम करे। इससे सम्पत्ति उसके पास जरुर रहेगी, लेकिन समाज हित में उसका उपभोग होगा। वह अपने उपभोग के लिये आवश्यक सम्पत्ति के अंश को अपने पास रखे और शेष सम्पत्ति का निवेश उसे लोक कल्याण में करना चाहिये।

महात्मा गांधी का संरक्षकता का सिद्धान्त अपरिग्रह की भावना पर आधारित है। अपरिग्रह की भारतीय संस्कृति में स्थापित प्रतिष्ठा रही है, जिसके अनुसार व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक का संग्रह नहीं करना चाहिये। इस तरह गांधी 'सबै भूमि गोपाल की' जैसी सोच के तहत प्रकारान्तर से सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व को व्यक्ति की नैतिक शक्ति के सहारे प्रतिष्ठित करते हैं। ट्रस्टीशिप के इस सिद्धान्त के द्वारा वह पूंजीवाद के विष का शमन कर उसे परिमार्जित करना चाहते हैं। इसी लक्ष्य हेतु मार्क्स के हिंसा के मार्ग के विपरीत गांधी जी अहिंसा एवं नैतिक माध्यम का आश्रम अपनी ट्रस्टीशिप की अवधारणा में लेते हैं। सदा जीवन-उच्च विचार के कायल गांधी जी जीवन की आवश्यकताओं को भी बेहद सीमित रखने के पक्षधर हैं।

12.3.2 विकेन्द्रीकरण

महात्मा गांधी राजनीतिक सत्ता की भाँति आर्थिक शक्ति के भी विकेन्द्रीकरण के पक्षधर थे। उनका मानना था कि उत्पादन की आधुनिक पद्धति बड़े कल कारखानों से जुड़ी हुई है, जो केन्द्रित उत्पादन एवं केन्द्रित पूंजी को बढ़ावा देती है। उत्पादन एवं अर्थ सत्ता का यह केन्द्रीकरण राजसत्ता के भी केन्द्रीकरण का कारण बनती है। पूंजीवादी अर्थतंत्र तो इस रोग से ग्रस्त है ही, लेकिन समाजवाद एवं साम्यवाद के प्रयोग भी इससे अछूते नहीं हैं, क्योंकि वह उत्पादन एवं उसके साधनों के स्वामित्व का सामाजीकरण करने के बावजूद उत्पादन की प्रक्रिया एवं पूंजी के केन्द्रित स्वरूप के दोष से ग्रस्त बने रहते हैं। फलतः वह केन्द्रित उत्पादन एवं पूंजी शक्ति के कारण केन्द्रित सत्तावाद के दोष का शिकार होकर सच्चे लोकतंत्र के रास्ते से भटक जाते हैं। अतः ऐसे समाजवादी प्रयोग लोकशक्ति से कट जाने के कारण कभी सफल नहीं हो सकते। अतः गांधी जी अर्थसत्ता और उत्पादन प्रणाली के विकेन्द्रीकरण के पक्षधर हैं। अतः वह बड़े उद्योगों के उन्मूलन तथा ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग के विकास का समर्थन करते हैं।

गांधी जी कुटीर एवं ग्रामोद्योग को विशेष महत्त्व देते हैं क्योंकि इससे जहाँ स्वदेशी की भावना का पोषण होगा, वहीं मानव शक्ति या श्रम शक्ति की प्रतिष्ठा स्थापित होगी। इसमें पूंजी का भी केन्द्रीकरण नहीं होगा और उत्पादन भी केन्द्रित नहीं होगा। अतः शोषण का भी सार्थक निषेध हो सकेगा।

12.3.3 प्रतिस्पर्धात्मक मशीनीकरण का विरोध

महात्मा गांधी प्रतिस्पर्धापूर्ण मशीनीकरण और उन पर आधारित बड़े उद्योगों के विरुद्ध थे। वह मूलतः मशीन के विरुद्ध नहीं थे, लेकिन मशीनीकरण एवं उस पर आधारित औद्योगिक उत्पादन के सीमित स्वरूप के पक्षधर थे। वह मशीनों को उसी हद तक स्वीकार किये जाने के हिमायती थे, जहाँ तक मनुष्य मशीनों को नियंत्रित करे, न कि मशीनें मनुष्य को नियंत्रित करने लगें। वह बेरोजगारी पैदा करने वाले निरन्तर बढ़ते मशीनी स्वचालन के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि बड़ी मशीनों पर आधारित बड़े उद्योगों के प्रतिस्पर्धात्मक विकास से छोटे एवं कुटीर उद्योग नष्ट हो जायेंगे और रोजगार की संभावनायें इससे संकुचित होती चली जायेंगी। इससे प्रदूषण भी बढ़ेगा। गांधी जी ने जहाँ बड़े उद्योगों के विकास का विरोध किया, वहीं स्थापित बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की सोच का समर्थन किया।

12.3.4 खादी, ग्रामोद्योग एवं आर्थिक स्वावलम्बन

महात्मा गाँधी ने खादी एवं चरखे के आन्दोलन में अपने आर्थिक विचारों का सफल प्रयोग किया। खादी आन्दोलन को संस्थागत आधार एवं लोकप्रिय जनाधार से जोड़कर गांधी जी ने उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक हितों के सामने एक गम्भीर प्रश्नवाचक चिह्न की तरह खड़ा कर दिया। खादी को स्वावलम्बन के साथ-साथ स्वदेशी की राजनीतिक भावना से जोड़कर जिस तरह भारतीय आत्मगौरव का प्रतीक बना दिया, उसने तत्कालीन ब्रिटिश उद्योगपतियों के माथे पर चिन्ता की लकीरें पैदा कर दीं।

गांधी जी खादी को ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग से जोड़कर देखते थे। उसके पीछे नीहित दर्शन के आधार पर ही उन्होंने कहा कि खादी वस्त्र नहीं विचार है। वह इसी प्रकार ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग के ढाँचे में अन्य उत्पादों को भी प्रोत्साहित कर व्यक्ति और उसके समुदाय की आधारभूत ग्राम इकाई को स्वावलम्बन की अवधारणा से जोड़ना चाहते थे। वह चाहते थे कि गाँव की आवश्यकता, उत्पादन एवं उपभोग में सामन्जस्य कुछ इस प्रकार हो कि गाँव आत्मनिर्भर बने और स्वावलम्बी विकास की दिशा में आगे बढ़ सकें।

12.3.5 गांधी जी और समाजवाद–

गांधी आर्थिक सन्दर्भ में व्यक्तिवादी नहीं थे। उन्होंने धन के विवेकपूर्ण नियोजन का और आर्थिक सन्दर्भ में सामाजिक न्याय का समर्थन किया। वह किसी भी रूप में आर्थिक शोषण के विरुद्ध थे। वह मानते थे कि स्वराज तब तक अर्थहीन है, जब तक कि वह समाज के सबसे पीछे खड़े व्यक्ति को भी जीवन की वह सब सुविधायें उपलब्ध नहीं हो जाती, जो आगे खड़े लोगों को प्राप्त हैं। गांधी जी चाहते थे कि धन लिप्सा और उस पर एकाधिपत्य की चाहत एवं उससे उत्पन्न होने वाली शोषण एवं प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्तियों का लोक परित्याग करें। इसके लिये व्यक्ति की आत्मा का उद्दीपन जरूरी है। ऐसा हुआ तो आध्यात्मिक-समाजवाद का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा, जिसमें सभी के साथ समान बर्ताव होगा। ऐसे समाजवाद के लिये किसी राजनीतिक शक्ति नहीं, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को जागृत करना होगा।

आधुनिक समाजवाद या साम्यवाद जहाँ अधिकतम संभव उत्पादन की बात करता है, वहीं गांधी औचित्य के आधार पर उत्पादन की आवश्यकता बताते हैं। साम्यवाद पहले काम के अनुसार और बाद में आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक की संस्तुति करता है और गांधी जी पहले उचित एवं निर्वाह योग्य और बाद में आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक की। यहाँ उल्लेखनीय है कि गांधी आवश्यकता को संयमित रखने पर भी जोर देते हैं और सादगीपूर्ण जीवन के पक्षधर हैं। समाजवाद एवं साम्यवाद में शासन के अधीन उद्योगों के संचालन का सिद्धान्त मान्य है, जबकि गांधी जी उद्योगों के विकेन्द्रीकरण, ग्रामोद्योग, ग्राम स्वावलंबन एवं ग्राम गणतंत्र की वकालत करते हैं। साम्यवादी व्यवस्था में लक्ष्यसिद्धि के

साथ हिंसात्मक क्रांति का भी अनुमोदन होता है, लेकिन गांधी किसी भी स्थिति में अहिंसक समाज पर जोर देते हैं। इस तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर गांधी जी को एक अहिंसक एवं आध्यात्मिक समाजवादी कहा जा सकता है।

महात्मा गांधी श्रम की प्रतिष्ठा के कायल थे और श्रम विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये उन्होंने एक श्रमिक और डाक्टर, वकील आदि जैसे दूसरे पेशे में कार्यरत लोगों को एक समान वेतन देने का क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रदान किया। वह मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राथमिक जरूरतों के लिये एक समान साधन मिलना जरूरी है और उससे अधिक प्राप्त करना संग्रही प्रवृत्ति को बढ़ावा देना होगा।

12.3.6 ग्राम-विकास

महात्मा गांधी मानते थे कि भारत गावों का देश है। भारतीय गांवों के विनाशकारी पिछड़ेपन तथा विघटन को देखकर वह द्रवित हो उठते थे। अतः वह ग्रामोद्धार और ग्राम विकास की प्राथमिकता के पक्षधर थे। ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में विकास की खांई को वह पाटना चाहते थे, लेकिन इस सन्दर्भ में वह इस बात के पक्षधर नहीं थे कि गांव भी विकास की दौड़ में नगरों का अन्धानुकरण करें। वह गाँवों का स्वावलंबी विकास चाहते थे, जिसमें वह अपनी पहचान कामय रखते हुये अपनी ऊर्जा एवं संसाधनों का प्रयोग गांव के विकास में कर सकें। उन्होंने गाँव में शोषण के ढाँचे को ध्वस्त करने के लिये जहाँ चरखे एवं ग्रामोद्योग को बल प्रदान करने की बात की, वहीं इसकी वकालत भी की कि भूमि पर हक उसे जोतने वाले का हो। इससे श्रम की सही मर्यादा स्थापित होगी। गांधी जी मानते थे कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई और गाँवों का स्वावलम्बी विकास हो सका तो हमारे लोकतंत्र की जड़ें मजबूत होंगी। उन्होंने गाँवों के सामुदायिक विकास पर जोर दिया।

12.4 सारांश

महात्मा गांधी का आर्थिक दर्शन समानता, शोषण विहीनता, अहिंसा, अन्त्योदय, सम्पत्ति की संरक्षकता न कि स्वामित्व, आर्थिक विकेन्द्रीकरण, ग्राम स्वावलम्बन, ग्रामोद्योग एवं कुटीर उद्योग आदि अवधारणाओं पर आधारित है और व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता का सन्देश देता है। गांधी नैतिक दृष्टि से तो व्यक्तिवादी हैं, लेकिन आर्थिक व्यक्तिवादी नहीं हैं। वह सम्पत्ति एवं पूँजी और उत्पादन को जनाभिमुख बनाना चाहते हैं।

12.5 उपयोगी पुस्तकें

1. वी०पी० वर्मा : माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट
2. वी० पी० वर्मा : दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी
3. डी० एम० दत्त : दि फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी
4. आर० रोलैण्ड : महात्मा गांधी
5. T.K. Owen : Charisma, Stability and Change : An Analysis of Bhudan-Gramdan Movement in India, N. Delhi, 1972.
6. Ramasray Roy (ed) : Centemporary Crisis Gandhi, Delhi, 1986.
7. Mathew Jakharia : Revolution to Reforms : A Companion of Sarvodaya and Consentisation, New Delhi, 1986.
8. Mehta J.K., Gandhian Thought : An Analygtical Study, Ashish Publishing House, New Delhi, 1994.

12.6 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी के ट्रस्टीशिप सम्बन्धी आर्थिक दर्शन की विवेचना करें।
2. अद्योगिकीकरण एवं मशीनीकरण पर महात्मा गांधी के विचारों का वर्णन करें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आर्थिक विकेन्द्रीकरण के गांधी जी के विचारों का उल्लेख कीजिये।
2. महात्मा गांधी के आर्थिक दर्शन और समाजवाद का तुलनात्मक संक्षिप्त विश्लेषण करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. गांधी जी के अछूतों के लिये किस शब्द का प्रयोग किया है?
   (a) हरिजन
   (b) अनुसूचित जाति
   (c) दलित
   (d) अछूत
2. निम्नलिखित में से किस सिद्धान्त का गांधी जी ने समर्थन नहीं किया है?
   (a) ट्रस्टीशिप
   (b) विकेन्द्रीकरण
   (c) केन्द्रीकरण
   (d) औद्योगीकरण

12.7 प्रश्नोत्तर

1. (a)
2. (c)

इकाई–13 : गांधी के आलोचक - सुभाष चन्द्र बोस, सावरकर

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 सुभाषचन्द्र बोस–

- 13.2.1 राजनीति के आध्यात्मिकरण का विरोध
- 13.2.2 मात्र अहिंसा से स्वराज्य संभव नहीं
- 13.2.3 निरपेक्ष नैतिकतावाद का विरोध
- 13.2.4 वर्ग संघर्ष अपरिहार्य
- 13.2.5 ऋषि श्रद्धाभाव का दुरुपयोग
- 13.2.6 सुभाष चन्द्र बोस के विचारों की समीक्षा

13.3 विनायक दामोदर सावरकर

- 13.3.0 राष्ट्रवाद की संकल्पना
- 13.3.1 अहिंसात्मक राजनीति अर्थहीन
- 13.3.2 'हिन्दुत्व' राष्ट्र के लिये अपरिहार्य
- 13.3.3 सत्याग्रह की पद्धति अनुपयुक्त
- 13.3.4 'मुस्लिम तुष्टीकरण' का विरोध
- 13.3.5 समीक्षा

13.4. साराँश

13.5 उपयोगी पुस्तकें

13.6 सम्बन्धित प्रश्न

13.7 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- गांधी के चिन्तन के आलोचनात्मक पक्षों की विवेचना कर सकेगी,
- सुभाषचंद्र बोस तथा विनायक दामोदर सावरकर के वैचारिक मतभेदों से गांधी जी की आलोचना के पहलुओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

गांधी युग में गांधी से असहमत और उनकी आलोचक चिन्तक धाराओं में जहाँ एक ओर धार्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से प्रेरित उग्र राष्ट्रवादी चिन्तक थे, वहीं दूसरी ओर प्रगतिवादी और उग्र वामपंथी चिन्तक से जुड़े लोग थे। इसके विपरीत राष्ट्रवादी और समाजवादी चिन्तन से जुड़ा एक बड़ा मध्यमार्गी वैचारिक वर्ग भी है जो गांधी से किंचित मतभेदों की वैचारिक सम्भावना के बावजूद गांधी के अनुकरण एवं प्रशंसा का युगधर्म की भाँति जीता है। गहरी असहमति एवं आलोचना की उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं से 'गांधी के आलोचक' शीर्षक इस इकाई में दो प्रतिनिधि चिन्तकों क्रमशः सुभाष चन्द्र बोस और सावरकर को शामिल किया गया है।

13. 2 सुभाषचन्द्र बोस

सुभाष चन्द्र बोस महात्मा गांधी के प्रशंसक थे और उनके नैतिक, आध्यात्मिक चरित्र और लोकप्रिय व्यक्तित्व के प्रति बोस के मन में गहरा सम्मानभाव था। गांधी को सारा देश महात्मा कह कर पुकारता था, लेकिन उन्हें पहली बार 'राष्ट्रपिता' कहकर उन्हें अप्रतिम सम्मान सुभाष चन्द्र बोस ने रंगून से अपने एक रेडियो प्रसारण में दिया। अपने सम्बोधन में गांधी जी को राष्ट्रपिता कहते हुये नेती जी सुभाष चन्द्र बोस ने उनसे अपने राष्ट्रीय संघर्ष में सफलता का आशीर्वाद मांगा। बोस मानते थे कि महात्मा गांधी ने भारतीय लोकचेतना में असाधारण राजनीतिक जागृति पैदा की। इसीलिये वह गांधी की भक्तिभावना, दृढ़ संकल्प शक्ति और गतिशील लोकनेतृत्व की दक्षता के प्रति सिर झुकाते थे। वह गांधी के मानवीय दृष्टिकोण और नैतिक जागरण के प्रयासों का भी समादर करते थे।

उपर्युक्त प्रशंसात्मक भावों के बावजूद बोस को गांधीवादी नहीं कहा जा सकता। वह गांधी को सत्याग्रही या स्वतन्त्रता संघर्ष का एक महान नेतृत्वकर्त्ता तो मानते थे, लेकिन उन्हें राजनीतिक चिन्तक के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। उनका मानना था कि गांधी में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था को कोई समग्र दर्शन या कार्यक्रम नहीं है। वस्तुतः वैचारिक और कार्यपद्धति के स्तर पर गांधी से बोस के गहरे मतभेद थे और इन मतभेदों के कारण ही अकाट्य लोकप्रियता के बावजूद बोस को कांग्रेस और उससे जुड़ी जन राजनीति का मुख्यधारा से अलग होना पड़ा। वस्तुतः अधोलिखित आधारों पर बोस गांधी से अंसहमत एवं उनके आलोचक थे।

सुभाष चन्द्र बोस युवावस्था में वेदान्त दर्शन के प्रशंसक थे परन्तु शनैः-शनैः वे सामाजिक तथा राजनीतिक यथार्थवादी बन गये। लोकमान्य तिलक की भाँति वे भी कर्म के समर्थक थे, प्रगति की धारणा में उनका विश्वास था, उन्होंने था, उन्होंने यह तर्क दिया कि प्राकृतिक जगत एवं इतिहास के अवलोकन से यह सिद्ध होता है कि विश्व प्रगति की ओर अग्रसर है। उनका मानना था कि हमारी अन्तःप्रज्ञा भी यही कहती है कि हम आगे की ओर बढ़ रहे हैं। शक्ति के प्रति उनकी गहरी आस्था थी और शक्तिशाली की आवाज ही सुनी जाती ऐह, जो शक्ति ही हैं उनकी आवाज भी नक्कारखाने में तूती की आवाज की भाँति है। भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि अतिशय अहिंसा देश के पराभव के लिए उत्तरदायी थी। भौतिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भारत के पतन का कारण उन्होंने भाग्य एवं अति-प्राकृतिक शक्तियों में अत्यधिक विश्वास को बताया। सुभाष ने भारत के राजनीतिक इतिहास में मुस्लिम स्थिति अथवा शक्ति की सर्वोपरिता को चुनौती दी। उन्होंने यह स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूव भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मुस्लिम व्यवस्था थी।

13.2.1 राजनीति के आध्यात्मीकरण का विरोध

सुभाष चन्द्र बोस राजनीतिक यथार्थवाद से अनुप्राणित थे। यद्यपि उन्होंने एक एक आध्यात्मिक

आदर्शवादी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया, परन्तु अन्त में राजनीतिक यथार्थवादी बन गए। वे गाँधी जी की भाँति राजनीति के आध्यात्मीकरण के पक्षधर कभी न थे। वे गाँधीवादी राजनीतिक कार्य पद्धति एवं विचारों के आलोचक थे। उन्हें राजनीति में नैतिकता का मिश्रण अथवा धार्मिक तथा राजनीतिक मामलों को मिश्रित करना पसन्द न था। एक यथार्थवादी होने के कारण बोस राजनीतिक सौदेबाजी में विश्वास करते थे। उन्होंने जीवन में राजनीति को राजनीति की तरह ही लिया एवं लिखा कि राजनीतिक सौदेबाजी का रहस्य यह है कि आप जितने शक्तिशाली है उससे अधिक शक्तिशाली जान पड़े। उन्हें विनम्रता और गिड़गिड़ाने की भाषा पसन्द न थी। 1931 में दूसरे गोलमेज सम्मेलन में सम्मेलन में गाँधी की नम्रता एवं ढुलमुल भाषा उन्हें पसन्द नहीं आयी। उनका विचार था कि गोलमेज सम्मेलन में गाँधीजी को राजनीतिक शक्ति के स्वरूप में बोलना चाहिए था। उनका विश्वास था कि यदि गाँधी स्टालिन, मुसोलिनी अथवा हिटलर की भाषा में बोलते तो ब्रिटिश सत्ता उनकी बात समझती और श्रद्धा से अपना सिर झुका लेती। एक राजनीतिक यथार्थवादी के रूप में सुभाषचन्द्र बोस ने इस बात को समझ लिया था कि राष्ट्रनिर्माण केवल बातों से नहीं होता बल्कि उसके लिए भारी त्याग एवं कष्ट सहना पड़ता है, उनमें हैम्पडन एवं क्रामबेल जैसा अदम्य साहस, शौर्य एवं अविचल आदर्शवाद हो। वे विवेकानन्द के इस कथन को बार-बार दुहराते रहते कि बिना त्याग के स्वतन्त्रता से साक्षात्कार नहीं हो सकता, यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलाई कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिए महान नैतिक तैयारियों की आवश्यकता है किन्तु घोर कष्ट उठाये बिना स्वाधीनता का लक्ष्य एक स्वप्न मात्र बना रहेगा।

13.2.2 मात्र अहिंसा से स्वराज्य संभव नहीं

बोस गांधी की इस अवधारणा से असहमत थे कि अहिंसा स्वराज का एकान्तिक एवं अकाट्य पथ है। वह अहिंसा के महत्त्व, लोकचेतना एवं राष्ट्रीय भावना जागृत करने में उसकी उपयोगिता स्वीकार करते थे, लेकिन मात्र अहिंसा के सहारे स्वराज्य की सिद्धि के प्रति आस्थावान नहीं थे। वह कूटनीतिक प्रयासों, अन्तर्राष्ट्रीय प्रचार एवं संधि से दबावकारी राजनीति को भी जरूरी समझते थे। ऐसे प्रयासों में बोस ने स्वराज्य के पवित्र उद्देश्य के लिये फासिस्ट ताकतों के साथ भी कराक एवं संगठित सैन्य सहयोग किया। वह समाज संरचना के धरातल पर साम्यवाद से प्रभावित थे, लेकिन साम्यवाद या समाजवाद के साथ फासीवाद से भी रणनीतिक तालमेल बनाया। इसमें सैन्य संगठन और मित्र देशों के विरुद्ध युद्ध की भूमिका भी उन्होंने निभायी और इस तरह स्वराज्य के लिए बन्दूक उठाने का रास्ता भी चुना। निश्चय ही यहाँ गांधीवाद से उनके चिन्तन एवं कार्य व्यवहार का गुणात्मक भेद प्रस्तुत होता है।

गाँधी का स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए नैतिक साधनों का आह्वाहन सुभाष को यथार्थ से कोसों दूर लगा। पूर्ण स्वाधीनता के लिए सुभाष का मन इतना अधीर था कि वे किसी भी शिथिल नीति को सहन करने के लिए तैयार न थे। इसलिए उन्होंने गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस की रीति-नीति से निराश होकर भारत से बाहर सैन्य संगठन का गठन किया और भारत को आजाद कराने हेतु अभूतपूर्व संघर्ष छेड़ दिया। अपने की प्राप्ति के लिए सुभाष सशस्त्र संघर्ष के समर्थक थे और अपने जीवन के सन्ध्याकाल में उन्होंने आजाद हिन्द फौज का गठन करके तथा देश को गुलामी से मुक्त कराने के लिए सैनिक अभियान चलाकर अपने विचारों को साकार कर दिखाया। आज जनता के लिए उन्होंने निम्न बातों पर बल दिया–

(1) ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, उद्योगों तथा ब्रिटिश दुकानों तथा सरकारी कार्यालयों को जलाना।

(2) भारत में अंग्रेजों का एवं जो भारतीय, अंग्रेजों के समर्थक हैं, उनका पूर्ण बहिष्कार।

(3) सरकारी रोक अथवा निषेधाज्ञा का उल्लंघन कर जुलूसों, धरनों आदि का आयोजन करना।

(4) जनता में रोष एवं उत्साह पैदा करने हेतु गुप्त पत्रों को छापना तथा गुप्त रेडियो स्टेशन को बनाना।

(5) ब्रिटिश अधिकारियों एवं सरकारी लोगों के घर जाकर उन्हें भारत छोड़ने के लिए बार-बार कहना।

(6) ऐसे पुलिसकर्मियों, जेलकर्मियों एवं सरकारी कर्मचारियों को सजा देना जो भारतीयों को तंग करते हैं।

(7) ब्रिटिश सेना एवं पुलिस के गुजरने वाले मार्गों पर अवरोध खड़ा करना तथा उन रेलगाड़ियों, बसों आदि के मार्ग में बाधा एवं रुकावट खड़ा करना जो सैनिक संघ सैन्य सामग्री ढो रहे हों।

(8) युद्ध में लगे सरकारी दफ्तरों एवं उद्योगों में आग लगा देना।

(9) डाक-तार, टेलिफोन तथा अन्य साधनों में अधिक से अधिक रुकावट पैदा करना।

(10) पुलिस कार्यालयों, कारागृहों एवं रेलवे स्टेशनों को नष्ट करना जिससे अंग्रेजों के आवागमन का मार्ग अवरुद्ध होवे।

सुभाष चन्द्र बोस के छापामार (गुरिल्ला) युद्ध की योजना गाँधी के अहिंसक कार्य-पद्धति से मेल नहीं खाती, फिर भी उन्होंने कहा कि भारत में जो प्रचार चल रहा है वह अहिंसक छापामार युद्ध संग्राम है। जिसका मूल उद्देश्य है कि ब्रिटिश प्रशासन को ठप्प करना एवं युद्ध उत्पादक शक्ति को विनष्ट करना। उन्होंने इस बात का आह्वान किया कि इसमें सभी भारतीयों को भाग लेना चाहिए।

13.2.3 निरपेक्ष नैतिकतावाद का विरोध

बोस ने महात्मा गांधी की नैतिकतावादी प्रतिबद्धता को उसके अतिवादी स्वरूप में स्वीकार नहीं किया। नैतिक राजनीति के उनके संकल्पों को वह सम्पूर्ण व्यवहारिक नहीं मानते थे। उनका मानना था कि राजनीति हर समय नैतिक मानकों के आधार पर नहीं चलती। साधन की शुद्धता की कसौटी राजनीति में सर्वकालिक नहीं हो सकती। इससे प्रायः राजनीतिक समस्यायें उलझ जाती हैं। प्रायः राजनीतिक उद्देश्यों की सफलता के लिये कूटनीतिक हथकण्डों का सहारा लेना पड़ता है। राजनीति का मैदान कोई धर्म क्षेत्र नहीं है। गांधी देश के राजनीतिक नेता भी हैं और नैतिक उपदेशकर्त्ता महात्मा भी। यह दोनों भूमिकायें अन्तर्विरोधी हैं। वह मानते थे कि हर बात को नैतिक धरातल पर परखने के कारण गांधी जी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की कूट चालों, साजिशों एवं फरेब भरे मन्सूबों को नहीं समझ पाते हैं और उनका माकूल उत्तर भी नहीं दे पाते। केवल जनमत को समझने से काम नहीं चलता। विरोधी की मनःस्थिति को भी समझना राजनीति में जरूरी होता है। गांधी जी इसमें असफल रहे हैं। बोस को राजनीतिक एवं नैतिक प्रश्नों को मिश्रित करना पसन्द नहीं था।

13.2.4 वर्ग संघर्ष अपरिहार्य

बोस मानते थे कि वर्ग संघर्ष अपरिहार्य नियति है। गांधी जी पूंजीपति, मजदूर, किसान और सभी वर्गों के हितों में समायोजन एवं सामन्जस्य के पक्षधर थे, जबकि बोस इनमें सामन्जस्य की सम्भावना को खारिज करते हुये इनके वर्गीय हितों में टकराव एवं द्वन्द को अनिवार्य मानते हैं। वह मानते हैं कि पूंजीपति और मजदूर वर्ग की शत्रुता स्वाभाविक है। बोस मानते थे कि गांधी जी के चिन्तन में जिस तरह इन वर्गों के नैसरगिक द्वन्द को नजरन्दाज कर उनके बीच नैतिक समन्वय का उद्देश्य है, वहीं कभी साकार नहीं होगा और ऐसे अव्यवहारिक विचारों के कारण ही गांधी जी के नेतृत्व में कभी भारत आजादी नहीं पा सकेगा। वर्ग संघर्ष की जगह वर्ग समन्वय से असहमत बोस की यह भविष्यवाणी इतिहास में गलत साबित हुई, लेकिन इससे बोस एवं गांधी के बीच मतभेदजनित दूरी का आभास होता है।

13.2.5 कृषि श्रद्धाभाव का दुरुपयोग

बेस मानते थे कि ऋषियों, मुनियों, संतों एवं फकीर महात्माओं के प्रति भारतीय जनमानस में गहरी पैठ रखने वाले श्रद्धाभाव का महात्मा गांधी ने अपने राजनीतिक नेतृत्व के सुदृढ़ीकरण हेतु दुरुपयोग किया। एक संत या महात्मा का रूप धारण कर भले ही गांधी जी ने असाधारण लोकप्रियता अर्जित कर ली हो, लेकिन यह राजनीति की बुद्धिवादी शैली नहीं है। यह जनमानस का भावनात्मक शोषण है। इससे अन्धभक्ति को जिस तरह जनमानस में बढ़ावा मिला है, उससे जनता के बीच स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति आहत हुई है। इससे एक राजनीतिक नेतृत्वकर्त्ता की लोकप्रियता का अराजनीतिक आधार प्रकट होता है। यह विचित्र है कि लोग गांधी जी के राजनीतिक चिन्तन में राजनीतिक योजना के शून्य को नहीं समझते लेकिन उन्हें पैगम्बर या मसीहा की तरह पूजते हैं। गांधी भले ही अपनी इस शक्ति के सहारे भारतीय राजनीति में अनेक बुद्धिवादी नेतृत्वकर्त्ताओं की महत्ता को रौंदने में सफल हो गये हों, लेकिन ऐसे अबुद्धिवादी नेतृत्व से न तो सही राष्ट्रनिर्माण हो सकता है और न तो स्वराज्य आ सकता है।

13.2.6 सुभाष चन्द्र बोस के विचारों की समीक्षा

सुभाष के मन में महात्मा गाँधी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे गाँधीजी की सत्य, निष्ठा तथा चारित्रिक पवित्रता की प्रशंसा किया करते थे। वे यह भी मानते थे कि कांग्रेस को सुदृढ़ बनाने तथा जनता में व्यापक जागृति उत्पन्न करने के लिए गाँधीजी ने महान कार्य किया, फिर भी वे गाँधीवादी नहीं बन सके। उन्होंने गाँधीजी के विचारों तथा कार्य-प्रणाली की कई आधारों पर आलोचना की। वे गाँधीजी के आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्शवादी मानते थे। उनका विश्वास था कि राजनीतिक कार्यों में सफलता पाने के लिये सौदेबाजी की आवश्यकता होती है। गाँधी जी का दृष्टिकोण राजनीतिक समस्याओं के प्रति तत्त्वतः नैतिक था इसलिए वे राजनीतिज्ञों एवं प्रतिक्रियावादियों की कुटिल चालों एवं षड्यन्त्रों को नहीं समझ सके। सुभाष चन्द्र का यह स्पष्ट रूप से मानना था कि केवल अहिंसा के द्वारा इन कुटिल सत्ताधारियों की चालों का प्रत्युत्तर नहीं दिया जा सकता, अतएव स्वराज्य का लक्ष्य हमसे दूर होता जाता है। उनका यह भी मानना था कि यद्यपि कि अहिंसात्मक सत्याग्रह में लोकमत को जमाटने की क्षमता है, किन्तु केवल उसके बल पर स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की जा सकती। गाँधीजी ने राष्ट्रवाद की भावना जागृत करने के लिए जहाँ विभिन्न वर्गों की पारस्परिक शत्रुता को कम करने के लिए सामाजिक सामंजस्य का समर्थन किया। इसके विपरीत सुभाष धनियों एवं गरीबों के बीच सामाजिक संघर्ष को आवश्यक मानते थे।

13.3 विनायक दामोदर सावरकर

सावरकर हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चिन्तनधारा से जुड़े उग्र राष्ट्रवादी, क्रांतिकारी एवं आतंकवादी नेता थे। अपने उत्साह, उग्र क्रांतिकारी एवं आतंकवादी साहसिक कार्यों से उन्होंने अपने समय में जबर्दस्त ख्याति अर्जित की। आजीवन कालेपानी की सजा उन्हें दी गयी थी, लेकिन लम्बे कारावासीय जीवन के बाद 1937 में उन्हें रिहा कर दिया गया था। उसके बाद वह हिन्दू महासभा से जुड़ गये। हिन्दू संस्कृति के उत्कृष्टता एवं हिन्दू राष्ट्र के निर्माण के वह उत्साही समर्थक थे। वह मराठा शक्ति के अभ्युदय की व्याख्या हिन्दू राष्ट्रवाद की सम्भावनाओं के प्रतीक रूप में अपनी पुस्तक हिन्दू, पदपादशाही में की। उसे वह मुसलमानों की मदान्ध एवं उन्मत्त आक्रामकता की नीति का प्रतिकार मानते थे। वह 1857 के विद्रोह का भारत का प्रथम स्वतन्त्रा संग्राम मानते थे।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद के प्रखर प्रवक्ता सावरकर हिन्दू राष्ट्र को एक जैविक सांस्कृतिक एकता का प्रतिरूप मानते थे। सिन्धु से ब्रह्मपुत्र और हिमालय से कन्याकुमारी तक की मूल संस्कृति के लोग हिन्दू

हैं। इस हिन्दू रक्त एवं हिन्दू संस्कृति पर गौरव करने वाला ही हिन्दू है और हिन्दुत्व एक ऐसा राष्ट्रीय विचारपुंज है जिसमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं नैतिक सभी पक्ष समाहित हैं। वस्तुतः 'हिन्दू' एक अव्ययी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्ता की राष्ट्रचेतना है। इसी के साथ सावरकर मुस्लिम तुष्टीकरण के भी विरोधी थे और मानते थे कि मुसलमानों के साथ आये बिना भी स्वराज्य मिल सकता है। वह मानते थे कि हिन्दूवाद साम्प्रदायिक विशेषताओं एवं कामों से जुड़ा है, लेकिन हिन्दुत्व एक राजनीतिक अवधारणा और हिन्दुत्व एवं राष्ट्रवाद में कोई भेद नहीं है।

स्पष्ट है कि सावरकर की विचारधारा में संस्कृति श्रेष्ठता का अहं एवं अतिवादी आक्रामक तेवर शामिल था। वह शक्ति एवं उग्रता के सहारे हिन्दू-पादपादशाही की स्थापना चाहते थे और उन्हें हिंसा एवं आतंक से भी परहेज नहीं था। ऐसी स्थिति में महात्मा गांधी के चिन्तन एवं कार्यशैली के साथ उनका तीक्ष्ण मतभेद लाजिमी था। गांधी के वह न केवल आलोचक थे, बल्कि गांधी सदैव उनके प्रहारों के मुख्य निशाने पर होते थे। गांधी की हत्या के मुकदमें में भी वह अभियुक्त थे। प्रमाणों एवं साक्ष्यों की पूर्णता के अभाव में यद्यपि वह बरी हो गये, लेकिन उन्हें उस घटना का मुख्य सूत्रधार माना गया था। गांधी के प्रति उनके मतभेद एवं आलोचना के मुख्य पहलू अधोलिखित थे।

13.3.0 राष्ट्रवाद की संकल्पना

सावरकर ने 'हिन्दू-५द-पादशाही' नामक अपनी पुस्तक में अपने राजनीतिक दर्शन को भारत के राष्ट्रीय स्वरूप पर केन्द्रीत किया। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति इसके सांस्कृतिक सांस्कृतिक पहलुओं के सामंजस्य में रही है। उन्होंने अधिसंख्य हिन्दू लेखकों, विद्वानों आदि द्वारा अनुप्राणित धार्मिक व्यवस्था के रूप में हिंदुत्व की व्याख्या को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने हिन्दू-धर्म एवं मान्यता के विपरीत हिन्दुत्व को जनमानस और उसकी चेतना में व्याप्त वह केन्द्रीभू तत्त्व माना जो भारत की राष्ट्रीयता का हृदयस्थल एवं आधारभूमि है। इस प्रकार की अवधारणा में धार्मिक व्यवस्था की संकुचितता से पर हिन्दुत्व के अन्तर्गत इस देश की भौगोलिक सीमा के भीतर स्थित अनेकानेक स्थानीय धर्म और भौगोलिक दृष्टि से निकट देशों के जनसमुदाय भी आ जाते हैं। सावरकर अपने विचारों के समर्थन में यह तक देते हैं कि 'लाखों की संख्या वाले सिक्ख, जैन, लिंगायत, अनेक समाजी तथा अन्य समुदाय इस कथन पर गहरा रोष व्यक्त करेंगे कि ये जिनके पूर्वजों अनेक पीढ़ियों तक में हिन्दुओं का रक्त संचारित हो रहा था–अब अचानक वे हिन्दू नहीं रह गये हैं।' अनेक रंगतों और मतमतांतर वाला हिन्दू धर्म जीवन्त है और विकास कर रहा है। यह हिन्दू संस्कृति के परिवेश में अपना अस्तित्व संजोए हुए है। सावरकर का स्पष्ट मानना था कि हिन्दुओं के लिए धर्म की पहचान इतनी पूर्णता के साथ देश के जुड़ी उनकी अस्मिता से है कि यह देश उनके लिए न केवल पितृ-भूमि है बल्कि पुण्य-भूमि भी है।

इस प्रकार सावरकर के अनुसार हिन्दुत्व की धारणा हिन्दूवाद की धारणा से अधिक व्यापक है। हिन्दूवाद उनके अनुसार जहाँ हिन्दुओं की धर्म-विद्या तथा धार्मिक अनुष्ठानों का द्योतक है, वहीं हिन्दुत्व में धार्मिक क्रिया-कलाप तो सम्मिलित हैं ही, इस परे इसके अन्तर्गत जीवन के सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी पहलू आ जाते हैं। हिन्दुत्व वस्तुतः एक अनुभवी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का सूचक है और उस व्यवस्था को एकता प्रदान करने वाले तीन मुख्य तत्त्व हैं–भूमि, रक्त सम्बन्ध तथा संस्कृति। इस प्रकार हमें एकता के सूत्र में बाँधने वाले तीन आधारभूत बन्धन हैं–राष्ट्र, जाति एवं संस्कृति।

फिर उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिन्दुत्व में जन्म लेने एवं पले-बढ़े होने के कारण अपने देश के लिए उनकी समर्पण तथा आत्मोत्सर्ग की भावना असीम है। यह प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए अपने उत्सर्ग एवं कर्त्तव्यनिष्ठा पर बल दे। उनका स्पष्ट मत था कि

राष्ट्रवाद की समतुल्यता हिंदू अतिसंख्य होने के कारण हिन्दू ही राष्ट्र के स्वरूप का निर्धारण करेंगे। ईसाई, मुसलमान, सिख, जैन, आदि अल्पसंख्यकों को हिन्दुत्व के विकास हेतु हिन्दुओं के साथ परस्पर सहयोग एवं साहचर्य की नीति का अवलम्बन करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में मिमज्जित एवं निलेमित कर लेना चाहिए। हिन्दू राष्ट्र की पहचान को स्पष्ट करने की दृष्टि से सावरकर ने छुद्र लाभों के लिए किये जाने वाले धर्म-परिवर्तन करने वालों के लिए ऐसे पवित्र राष्ट्र में कोई स्थान न देने पर बल दिया। एक दूसरे प्रसंग में अल्पसंख्यकों इसाई एवं मुसलमानों के समान भागीदारी मानने से उन्होंने स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया, परन्तु राजनीतिक सत्ता में उनकी भागीदारी से वे इन्कार नहीं करते, जिनकी भावनाएं एवं आस्था इस देश की भूमि, लोगों एवं संस्कृति में है, जो इस देश से प्रेम एवं इसकी भूमि को पवित्र मानते हैं। जहाँ तक कि नागरिक एवं राजनीतिक जीवन स्तर पर तथा सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में उनके समानुपातिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न है, हिन्दू एक एकीकृत भारत के निर्माण के लिए इस प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों की भूमिका एवं सहयोग को स्वीकार करने को तैयार होंगे। लेकिन राजनीतिक समानता अर्थात विशेष बर्ताव तथा समान रूप से सत्ता में भागीदारी एवं साझेदारी की मांग को स्वीकार नहीं करेंगे। यद्यपि योग्यता के आधार पर समान अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्यायसंगत प्रतियोगी अवसर बने रहेंगे।

अतएव सावरकर का हिन्दुत्व कोई संकीर्ण पंथ नहीं है। उन्होंने भले ही हिन्दुत्व एवं राष्ट्रवाद के बीच परस्पर विरोधाभास को नहीं माना। अपितु वे एक बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक की भाँति इन दोनों के मध्य समरूपता का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे एक मानवतावादी एवं सार्वजनिक बन्धुत्व की भावना का विकास करना चाहते हैं! इस दृष्टि से उन्होंने तुकाराम के इस वाक्य को उद्धृत किया है– 'मेरा देश! सम्पूर्ण विश्व ही मेरा देश है।' उनका प्रथम सोपान भले ही राष्ट्रवाद हो परन्तु अन्तिम लक्ष्य तो मानववाद ही है।

13.3.1 अहिंसात्मक राजनीति अर्थहीन

सावरकर राजनीति में गांधी की अहिंसा की अवधारणा के विरोधी थे। सावरकर की दृष्टि में गांधी नहीं, बल्कि विश्व के वह नेता हीरो हैं जिन्होंने न्याय के लिये शक्ति एवं हिंसा का सहारा लिया। वह ब्रटस की तलवार, शिवाजी के बनखे को परम पवित्र मानते थे। दुनिया में घटित रक्तमय क्रान्तियों को वह निष्कलंक यश का प्रतीक मानते थे। वह मानते थे कि जब तक पृथ्वी पर अन्याय है तब तक उसके दमन के लिए उपयुक्त हिंसा पाप नहीं है। जब अन्यायरहित ईश्वरीय राज्य आ जायेगा तब अहिंसा की बात सोची जा सकती है। अहिंसा से स्वराज्य की कल्पना को वह उपहासास्पद मानते थे और उसे कायरों का हथियार समझते थे। वह न्यायार्थ हिंसा को उचित एवं भारतीय संस्कृति की परम्परा मानते थे। उनके अनुसार शक्ति का संगठन ही जीवित रहने का आधार हो सकता है।

13.3.2 'हिन्दुत्व' राष्ट्र के लिये अपरिहार्य

सावरकर ने गांधी और कांग्रेस के धार्मिक एवं साम्प्रदायिक समरसता, सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं सर्वधर्मसमनत्व की सोच पर टिकी राष्ट्रीयता की सोच को कभी स्वीकार नहीं किया और कहा कि हिन्दुत्व से भिन्न राष्ट्रीयता की कल्पना भारत में नहीं की जा सकती। भारत में पैदा धर्मों से जुड़े जैनियों, सिखों, बौद्धों, आर्य समाजियों, ब्रह्म समाजियों को वह हिन्दू संस्कृति का अंग मानते थे। हिन्दू राष्ट्र की भौगोलिक सीमा से बाहर के मूल वाले धर्मों एवं उनकी संस्कृतियों को वह हिन्दू सांस्कृतिक वितान का हिस्सा नहीं मानते थे। ऐसी राजनीति भाषा में हिन्दू और मुसलमान की पृथक राष्टरीयता मानने की प्रतिध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है। राष्ट्रीय एवं राजनीतिक चेतना में धर्म के नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों की मान्यता, मानवमात्र में समान ईश्वरीय सत्ता के वास और सभी धर्मों एवं संस्कृतियों में अभेद पर आधारित नागरिक अधिकारों की समता से जुड़ी राष्ट्रीयता की भावना तथा उस

पर सार्वभौम मानववाद एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की मर्यादा के गांधीवादी दृष्टिकोण को सावरकर कभी स्वीकार नहीं करते।

13.3.3 सत्याग्रह की पद्धति अनुपयुक्त

सावरकर गांधी के सत्याग्रह की कार्यशैली को बेकार और कायरों की रीति मानते थे। शक्ति को ही धर्म मानने वाले सावरकर स्वराज्य को राष्ट्र का वीरोचित लक्ष्य मानते थे। उनका मानना था कि राष्ट्र का निर्माण दया एवं भीख के सहारे नहीं होता।

13.3.4 'मुस्लिम तुष्टीकरण' का विरोध

सावरकर गांधी एवं कांग्रेस द्वारा मुसलमानों के प्रति सहिष्णुता एवं उदाहरता की नीति अपनाये जाने को राष्ट्र के लिये घातक मानते थे। उन्होंने स्वेज नहर बनने का विरोध किया और चाहते थे कि भारत अरब के मुसलमानों के मुकाबले इसराइल का समर्थन करे। मुसलमानों से सहानुभूति पर बनी नीतियों को वह तुष्टीकरण मानते थे और उसके विरुद्ध थे।

13.4 समीक्षा

सावरकर एक महान राष्ट्रवादी, अप्रतिम मानवतावाद के प्रेमी तथा क्रान्तिकारी आतंकवाद से अनुप्राणित अपने साहसिक राजनीतिक कार्यों से बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में प्रकाश में आए। वे हिन्दू एकता के कट्टर समर्थक थे। गणेश शंकर विद्यार्थी ने 'देश की उन आत्माओं' (16 फरवरी, 1925), 'क्रान्ति का उद्घोष' (पृष्ठ 776) में लिखा "देशभक्त प्रचण्ड तपस्वी, वीर शिरोमणि, महान सावरकर के सदृश लोकान्तर पुरुष पुंगव भी गड़े पत्थरों को उखाड़ कर हिन्दुत्व की अजरामता और श्रेष्ठता सिद्ध कर रहे हैं। जातिगत विद्वेष एवं बैमनस्य यहाँ तक बढ़ गया है कि उनके सदृश स्वतन्त्रता के परम पुजारी भी इसी मैले-गँदले, छिछले अंकस्रोत में बह चले।" उनके हृदय में देश के लिए अगाध प्रेम था, फिर भी वे जीवन को हिन्दू दृष्टिकोण से ही देखते रहे। इसी दृष्टि से 1956 में भारत द्वारा स्वेज संकट पर अरबों के समर्थन को अनुचित ठहराकर इजराईल की पक्षधरता का समर्थन किया था।

सावरकर की भारत के सन्दर्भ में मिली-जुली राष्ट्रत्व की धारणा के अन्तर्गत 'हिन्दुत्व' के निर्माण में अतिधार्मिकता (धार्मिक सनक) के बजाय हिन्दू संस्कृति की अहम् भूमिका को माना था। स्वामी दयानन्द की भाँति सावरकर ने भी जाति, धर्म एवं राष्ट्रत्व पर जोर दिया। अर्थात् उनके मतानुसार हिन्दू धर्म के बजाय हिन्दू संस्कृति (भारत के सभी निवासियों की संस्कृति) भारत के राष्ट्रत्व का आधार थी। यहाँ तक वे गाँधी से सहमत दिखे परन्तु जब गाँधी अल्पसंख्यकों विशेष रूप से मुस्लिमों के तुष्टिकरण की नीति की ओर बढ़ चले तो वे गाँधी से असहमत हो चले। जिसके कारण धार्मिक, अल्पसंख्यक उनसे नाराज हुए।

सावरकर गाँधी के अहिंसा की अवधारणा से भी सहमत न थे। उन्होंने ऐसे वीरों को श्रेष्ठ बताया जिन्होंने क्रान्तिकारी ढंग से परिवर्तन लाया। इसी दृष्टि से उन्होंने भारत में 1857 के विद्रोह को राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का दर्जा प्रदान किया। वे लाला लाजपत राय के इस मत से सहमत दिखे जिसमें उन्होंने माना था कि 1957 के महान विप्लव को राजनीतिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। यह भारतीयों में आत्मगौरव एवं श्रेष्ठता का भाव पैदा करने में सहायक सिद्ध होगा।

सावरकर द्वारा हिन्दुत्व एवं हिन्दूवाद में जो भेद किया गया है वह राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं चतुराईभरा विश्लेषण है। जहाँ उन्होंने हिन्दूवाद का संबंध मुख्य रूप से धर्म तथा धर्म विद्या से माना है, वहीं हिन्दुत्व को एक राजनीतिक धारणा माना है जिसके अन्तर्गत सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी पहलू आ जाते हैं। सावरकर ने जो

यह भेद किया है वह 'जातीय समांगता' पर आधारित है जो वी0 पी0 वर्मा के अनुसार 'ऐतिहासिकता' की कसौटी पर खरी नहीं उतरती क्यों कि जातीय समांगता का सिद्धान्त जाति-विज्ञान की ऐसी धारणा है जिसका खोखलापन बहुत पहले स्पष्ट हो चुका है। साथ ही सावरकर ने इस बात पर भी गम्भीरता से विचार नहीं किया है कि अपने अर्द्धविकसित देश में हिन्दुत्व का लोकतांत्रिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के साथ क्या संबंध होना चाहिए। फिर भी सावरकर की बौद्धिक क्षमता एवं कुशाग्रता उनके दूरदृष्टि को परिलक्षित करती है और राष्ट्रवाद के संकुचित दायरे से बाहर निकलकर मानवतावाद एवं सार्वभौमवाद की ओर बढ़ती है।

13.5 सारांश

स्पष्टतः बोस और सावरकर एक चिन्तन में गांधीवादी चिन्तन से गम्भीर असहमतियाँ थीं। फर्क मात्र यह था कि बोस एवं गांधी ने साथ मिलकर काम करने की कोशिश भी की थी और मदभेदों के गम्भीर रूप लेने पर बोस ने अपनी रास्ता अलग कर लिया। कांग्रेस में रहकर गांधी से लड़ने में ऊर्जा खपाना वह गैरजरूरी मानते थे और गांधी के व्यक्तित्व के कई आयामों के प्रति उनका प्रशंसा एवं आदर का भाव उन्हें ऐसा करने भी नहीं देता। यही कारण है कि बोस गांधी से मतभेद रखते थे, मतभेदों के आलोचक भी थे, लेकिन बोस ने ही सबसे पहले गांधी को 'राष्ट्रपिता' कहा। दूसरी ओर सावरकर गांधी के न केवल मुखर आलोचक थे, बल्कि वह गांधी एवं उनके चिन्तन को कभी पचा नहीं सके। यहाँ तक कि उन पर गांधी की हत्या का आरोप भी लगा। वस्तुतः गांधी और सावरकर के चिन्तन में इतनी दूरी थी कि उनके बीच वैचारिक साझेपन का कोई भी कोना नहीं था।

13.6 उपयोगी पुस्तकें

1. टोय, ह्यू : 'द स्प्रिंग टाईगर', एलाईड पब्लिशर्स, बम्बई, 1959।
2. बोस, सुभाष चन्द्र : इण्डियन स्ट्रगल, नेताजी रिचर्स ब्यूरो, कलकत्ता, 1964।
3. मुखर्जी, हीरेन : बा ऑफ बर्निंगगोल्ड : ए स्टडी ऑफ सुभाष चन्द्र बोस, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1977।
4. हरिहर दास :सुभाष चन्द्र बोस एण्ड द इण्डियन स्ट्रगल, स्ट्रलिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1983।
5. मार्कण्डेय, सुबोध : सुभाष चन्द्र बोस, नेताजी पैसेज टू इममारटेलेटी, आरनाल्ड पब्लिशसे, दिल्ली।
6. चित्रगुप्त : लाईफ ऑफ बैरिस्टर सावरकर, इन्द्र प्रकाश द्वारा संशोधित तथा परिवर्धित हिन्दू मिशन पुस्तक भण्डार, नई दिल्ली, 1939।
7. भाई परमानन्द : हिन्दू संगठन, सेण्ट्रल हिन्दू युवक सभा, 1936।
8. सावरकर, वी0 डी0 : हिन्दू-पद पादशाही, बी0 आर0 शिन्दे, नागपुर, 1948।
9. पैथम, थॉमस और डायस के0 एल0 (सेपर0) : माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1986।
10. वर्मा, वी0 पी0 : आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, आगरा, 1995।

13.7 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी और सुभाष चन्द्र के चिन्तन में साम्य एवं मतभेद के आधार पर क्या थे? बोस उनके किन विचारों के आलोचक थे?
2. सावरकर द्वारा गांधी की आलोचना के आधार क्या थे?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सुभाष चन्द्र बोस ने गाँधी के अहिंसा सम्बन्धीं विचारों की क्या आलोचना की है?
2. सावरकर के हिन्दुत्व विषयक विचारों का उल्लेख कीजिये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सुभाष चन्द्र बोस ने माना है–

   (अ) वर्ग संघर्ष अपरिहार्य है

   (ब) वर्ग संघर्ष अनावश्यक है

   (स) वर्ग समन्वय सम्भव।

   (द) वर्ग विहीन समाज अपेक्षित है।

2. निम्नलिखित में सेकिस विचारधारा का सावरकर ने समर्थन किया ऐह।

   (अ) अहिंसा,

   (ब) सत्याग्रह

   (स) मुसइलम तुष्टीकरण

   (द) हिन्दुत्व

13.8 प्रश्नोत्तर

1. (अ)
2. (द)

इकाई – 14 : महामना पं0 मदन मोहन मालवीय

इकाई की रूप रेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 राजनीतिक विचारक

14.2.1. हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

14.2.2. स्वदेशी के पक्षधर

14.2.3. स्वराज्य एवं आत्मनिर्णय के समर्थक

14.2.4. लोकतंत्रवादी

14.2.5. स्वतन्त्रता एवं संविधानवादी कार्यपद्धति के समर्थक

14.2.6. राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के समर्थक

14.3 मूल्यांकन

14.4 सारांश

14.5 उपयोगी पुस्तकें

14.6 सम्बन्धित प्रश्न

14.7 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप :

- पं0 मदनमोहन मालवीय के राजनीतिक चिन्तन के विविध आयामों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- मालवीयजी के हिन्दुत्व सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, स्वदेशी, स्वराज्य तथा लोकांतवादी की अवधारणाओं की विवेचना कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

महात्मा गांधी नैतिक विश्वास, आध्यात्मिक चेतना, सत्य एवं अहिंसा और ईश्वरीय सत्ता में परम निष्ठावान, किन्तु सेकुलर एवं उदारवादी चिन्तन परम्परा के विचारक थे। इसके विपरीत महामना मालवीय भी एक धर्मनिष्ठ, उदार एवं सुधारवादी, किन्तु हिन्दू पुनरुत्थानवाद की चिन्तन परम्परा के विचारक थे। मालवीय जी असाधारण सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त सामाजिक एवं राजनीतिक थे, जिसने देश में समाज, राजनीति, शिक्षा एवं संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी यशस्वी एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध शिक्षा संस्था के संस्थापक मालवीय जी का पत्रकारिता में भी गहरा दखल था और उन्होंने हिन्दुस्थान दैनिक के सम्पादन के अतिरिक्त 'द इंडियन यूनियन' का सम्पादन एवं 'अभ्युदय' का प्रकाशन भी किया। वैचारिक मतभेदों के बावजूद महात्मा गांधी सहित देश के अग्रणी नेताओं के बीच महामना मालवीय को भारी सम्मान प्राप्त था। वह लोगों की व्यापक श्रद्धा के

केन्द्र थे और आम एवं खास दोनों तरह के लोगों के बीच पूजनीय थे।

महामना मालवीय अपने युग में फिरोजशाह मेहता, रानाडे, गोखले आदि के साथ कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्वकर्त्ताओं में गिने जाते थे, लेकिन वैचारिक दृष्टि से वह लोकमान्य तिलक से अधिक प्रभावित प्रतीत होते थे। वह हिन्दू पुनरुत्थानवाद एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना से जुड़े थे, लेकिन उनमें चिन्तन की उग्रता या वैचारिक अतिवादिता के लिये कोई स्थान नहीं था और वह सुधारात्मक उदारवाद से भी प्रभावित थे। उन्हें एक राष्ट्रवादी-सुधारक कहा जा सकता है। राष्ट्र के औद्योगिक विकास एवं वैज्ञानिक आधुनिकीकरण में उनकी गहरी अभिरुचि थी। शैक्षणिक सुधार एवं शिक्षा के विकास हेतु उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया। वह हिन्दू परम्परावादी थे, लेकिन आधुनिक शिक्षा के कायल थे। इम्पीरियल लेजिसलेटिव काउन्सिल के सदस्य में उनकी एक प्रखर संसद्‌विद् की छवि भी उभरकर सामने आयी। वह 1932 की दिल्ली कांग्रेस के मनोनीत सभापति और 1934 में कलकत्ता के कांग्रेस राष्ट्रीय दल के सम्मेलन की अध्यक्षता की। आगे हिन्दू महासभा और सनातन धर्म महासभा के प्रमुख नेता के रूप में उन्होंने भूमिका निभायी। आर0 एस0 एस0 के साथ भी उनके अच्छे सम्बन्ध थे। हिन्दू धर्मग्रन्थों के वह गम्भीर अध्येता थे।

मालवीय जी का जीवन के प्रति दृष्टिकोण धार्मिक था। उनका धर्म के जीवनदायिनी शक्तियों में हार्दिक विश्वास था। उनका यह विश्वास था कि धार्मिक नियमों, यज्ञों तथा व्रतों का पालन करने से जो नैतिक प्रगति होती है वह भौतिक समृद्धि से अधिक सारयुक्त है। वे कर्त्तव्य परायणता, भक्ति तथा समर्पण की धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे। राष्ट्रीय महानता एवं राष्ट्र गौरव का आधार मानव के नैतिक मूल्यों में विश्वास तथा उसके परिपालन की महती आवश्यकता को माना है। उनका महाभारत के इस उपदेश में परम विश्वास था कि स्थायी विजय की प्राप्ति धर्म के द्वारा ही सम्भव है। वे कहा करते थे कि 'सब सम्प्रदायों के लोगों को एक महान राष्ट्र के रूप में संयुक्त करने के लिये आवश्यक है कि देशभक्ति तथा भाईचारे की भावनाओं का परिवर्धन किया जाय।' इस कारण उन्होंने विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में धार्मिक शिक्षा देने का समर्थन किया।

महामना मदन मोहन मालवीय पर कांग्रेस के नरम दलीय एवं गरम दलीय चिन्तन का समान प्रभाव था। एक ओर जहाँ उनके चिन्तन में हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति होती है, वहीं दूसरी ओर वह नरमदलीयों की तरह सुदारवाद, संविधानवाद और अंग्रेजी शासन से सहयोग की नीति के भी पक्षधर दिखायी देते हैं। उनकी प्रकृति लोकतन्त्रात्मक थी, लेकिन उनकी आस्था हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता और उससे अनुप्राणित चेतना में थी। हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता और उससे प्रभावित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की चेतना के साथ उदात्त भावों का समावेश जहाँ उनके चिन्तन में था, वहीं उसमें किसी प्रकार की वैचारिक उग्रता नहीं थी।

14.2 राजनीतिक विचार

महामना मदन मोहन मालवीय के राजनीतिक चिन्तन के विविध बिन्दु अधोलिखित हैं–

14.2.1 हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

महामना मालवीय पर विवेकानन्द, तिलक एवं अरविन्द की उस विचार परम्परा का प्रभाव था जिसमें हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता का विश्वास और उस पर हिन्दी राष्ट्रीयता की चेतना का गहरा पुट है। वह सनातनधर्मी पाण्डित्व परम्परा से जुड़े एक धर्मनिष्ठ चिन्तक थे। उनकी जीवन दृष्टि सम्पूर्णतः धार्मिक थी। वह अपने धार्मिक विश्वासों को राष्ट्रीयता का आधार और नैतिक जीवन को राष्ट्र की महानता की कसौटी माना। अतः आधुनिक शिक्षा की विश्व की अग्रणी संस्थाओं के संस्थापक महामना मालवीय शिक्षा संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा को जरूरी मानते थे।

मालवीय जी श्रद्धालु हिन्दु आस्तिक थे। उन पर भागवत के भक्तिमूलक आदर्श का गम्भीर प्रभाव पड़ा था। उनके धार्मिक दर्शन का निचोड़ 'ईश्वर की सर्वव्यापकता' में सन्निहित थी। एक वैष्णव होने के कारण उनका ईश्वर के अवतार के सिद्धान्त में अटूट विश्वास था। वे कृष्ण के उपासक थे। उनका इस धारणा में परम विश्वास था कि इतिहास दैवी शक्तियों के द्वारा शासित है। मालवीय जी रानाडे, अरविन्द तथा गाँधीजी की भांति इस धारणा में विश्वास रखते थे कि इतिहास में ईश्वर सदैव सत्य, न्याय एवं नैतिकता के पक्ष में हस्तक्षेप करता है। इसी दृष्टि से मालवीय जी ने प्रथम विश्वयुद्ध में ईश्वर का हस्तक्षेप माना था जिससे मित्र राष्ट्रों की विजय हुई थी। उनका मानना था कि कर्म का नियम क्रूर निश्चितता के साथ कार्य करता है। यद्यपि कुछ मित्र राष्ट्रों ने भी समय-समय पर न्याय तथा शिष्टता के नियमों आक उल्लंघन किया था। उन्हें भी अपने कुकर्मों का फल भोगना पड़ा था। किन्तु अन्त में उनकी विजय हुई थी, क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से उनका आचरण जर्मन एवं इतालवी लोगों के मुकाबले में अधिक न्याय संगत था। इस प्रकार मालवीय जी का विश्वास था कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भी नैतिक शासन का नियम काम करता है, और विजय न्याय तथा सत्य के पक्ष की ही होती है।

मालवीय जी हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के शास्वत मूल्यों में गहरी आस्था के धनी थे। अतः हिन्दू धर्म एवं संस्कृति से कटी राजनीति को वह भारत के लिये अस्वाभाविक मानते थे। इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि वह मुसलमानों या अन्य धर्मों एवं उससे प्रभावित संस्कृति में आस्था रखने वालों को राष्ट्र का अंग नहीं मानते थे। धार्मिक एवं सांस्कृतिक विविधता के प्रति सहिष्णुता का भाव उनके चिन्तन में था, लेकन हिन्दुत्व की श्रेष्ठता को वह राष्ट्रीय जीवन में स्वाभाविक मानते थे। वह मानते थे कि सच्चे राष्ट्रवाद का तकाजा यह है कि उसमें जनता के सभी वर्गों के कल्याण की चिन्ता हो और उनके विकास का संकल्प हो। वह सभी वर्गों की राष्ट्रीय एकता का भी स्वप्न देखते थे और उनका विश्वास था कि देशभक्ति के भावों का प्रसार कर उस राष्ट्रीय भावना को सम्पुष्ट किया जा सकता है। उनके सम्बन्ध गांधी से लेकर अली बन्धुओं तक से प्रगाढ़ थे। कांग्रेस में भी उनका बेहद सम्मान था। लेकिन 20वीं सदी के तीसरे दशक में जब कांग्रेस की सेकुलर एवं लोकतांत्रिक पर टिके उसके राष्ट्रवाद का स्वरूप स्वतंत्रता आन्दोलन में अधिक मुखर एवं गांधी के सत्याग्रह के साथ जनान्दोलित रूप लेने लगा, तो मालवीय जी धीरे-धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन की उस मुख्यधारा से करे प्रतीत होने लगे। इसी दौर में अपने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विचारों के प्रभाव स्वरूप हिन्दू महासभा के साथ भी उनके सम्बन्ध बढ़े।

मालवीय जी सनातन धर्म महासभा के, जिसकी बैठक जनवरी 1906 में इलाहाबाद में हुई थी, प्रमुख नेताओं में से एक थे। वे हिन्दू महासभा के प्रमुख संगठन कर्त्ता थे। वे एक महान सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व का आधुनिक भारत की राजनीति, समाज, शिक्षा तथा संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उन्होंने हिन्दुओं की एकता, सांस्कृतिक उत्कर्ष, चारित्रिक शुद्धि तथा कार्यकारी क्रिया-कलाप पर विशुद्ध रूप से बल दिया। उन्होंने उत्तर भारत में हिन्दू समाज की सुदृढ़था तथा पुनर्स्थापना पर विशेष बल दिया एवं इस दिशा में भारी कार्य किया था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी अथक राष्ट्रीय सेवाओं का चिरस्थायी स्मारक है। उनके मूल में भी प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहन देने की भावना विद्यमान थी। इस दृष्टि से उन्होंने 1934 में एम0 एस0 हूणे के साथ मिलकर रैम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया। यद्यपि कि पून समझौते के द्वारा उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया था, फिर भी उसने देश को साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया और हिन्दुओं के साथ भारी अन्याय किया। उनका स्पष्ट मत था कि साम्प्रदायिक निर्णय ने लोकतान्त्रिक प्रगति के स्थान पर साम्प्रदायिक निरंकुश तन्त्र की स्थापना कर दी है।

राष्ट्रीय आन्दोलन के उपर्युक्त दौर में मालवीय जी के चिन्तन का यह आयाम और स्पष्ट होकर उभरा कि संस्कृति राष्ट्रवाद का आधार है। वह धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना को राष्ट्रवाद का मुख्य आधार मानते थे और लौकिकतावादी एवं भौतिकवादी चिन्तन पर आधारित राष्ट्रवाद उन्हें ग्राय नहीं था। अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदार एवं न्याय भावना के बावजूद वह हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रति गहरा अनुराग रखते थे।

14.2.2 स्वदेशी के पक्षधर

मालवीय जी ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। वह स्वदेशी को धर्म मानते थे। उसे वह राष्ट्र का विशेष धर्म कहते थे। उनका अभिमत था कि स्वदेशी को अपनी शक्ति भर बढ़ावा देना हर भारतवासी का कर्त्तव्य है। वह मानते थे कि अपने देश का बना वस्त्र खरीद कर हम न केवल आत्मगौरवान्वित होते हैं, बल्कि हम अपने क़िसी भाई को जीविका या भोजन का आधार प्रदान करते हैं। आज जब भारत के लोग असह्य गरीबी की यातना भुगत रहे हैं और उस स्थिति में यदि देश का धन बाहर जा रहा है और इससे बड़ा अधर्म एवं पाप और कुछ हो नहीं सकता। मालवीय जी मानते थे कि भारत के व्यापार एवं उद्यम को संरक्षण प्रदान करने की नीति की अपेक्षा हम इंग्लैण्ड की सरकार से नहीं कर सकते क्योंकि कर मुक्त व्यापार नीति की पक्षधर है और मुक्त व्यापार की विश्वजनीन प्रतियोगिता में भारत के उद्यम खड़े नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में उन्हें बचाने के लिये स्वदेशी आन्दोलन का कोई विकल्प नहीं है। वह मानते थे कि स्वदेशी के पीछे विदेशी वस्तुओं के प्रति दुर्भावना का विचार नहीं है। इसके पीछे विशुद्धतः भारतीय उद्यम एवं अर्थतंत्र को सहारा देने और देश को स्वावलम्बी बनाने की सोच है। इससे भारतवासियों को रोजगार और दो वक्त की रोटी मिल सकेगी।

इस सन्दर्भ में कलकत्ता में 1906 में उनके दिये गये भाषण का सार है–"मैं इसको (स्वदेशी को) अपने देशवासियों के प्रति अपने धार्मिक कर्त्तव्य का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इसे मानव-जाति का धर्म और हम सबका विशिष्ट धर्म मानता हूँ। मानवजाति के धर्म की माँग है कि आप यथा सामर्थ्य स्वदेशी आन्दोलन को बढ़ावा दें। अपने किसी देशवासी द्वारा निर्मित वस्त्र को खरीदने में मुझे ऐसा लगा है और अभी भी लग रहा है कि मैं उसे जीवित रहने के लिए कम से कम एक कौर भोजन प्राप्त करने में सहायता दे रहा हूँ। हो सकता है कि सूत किसी बाहरी देश से आयो हो, किन्तु उसमें अपना जो श्रम लगाया है उससे उसे लाभ का आधा, तिहाई अथवा कोई अंश अवश्य मिल जायेगा जिससे वह अपना और अपने आश्रितों का पेट भर सकेगा। जब आप देखते हैं कि आपके आस-पास लोग इतना कष्ट भोग रहे हैं, देश का धन भारी राशि में बाहर जा रहा है, लोगों की आय इतनी कम और साधन इतने अल्प हैं, कि मैं कहूंगा कि प्रत्येक उदार भावनाओं वाले व्यक्ति का यह धार्मिक कर्त्तव्य है कि वह जहाँ कहीं भी देश में निर्मित वस्तुएं मिल सकें उन्हें विदेशी चीजों की तुलना में तरजीह देकर भारतीय उत्पादन को बढ़ावा दें, चाहे ऐसा करने में उसे कुछ त्याग भी करना पड़े।' मालवीय जी का उपरोक्त सम्भाषण स्वदेशी आन्दोलन की दशा एवं दिशा दोनों को ही निर्धारित करता है। जो देशवासियों के गरीबी, भूख एवं बेरोजगारी को दूर कर सकेगी एवं उनके अन्दर आत्मगौरव, धर्मनिष्ठा तथा आत्मनिर्भरता लाने में समर्थ होगी।

14.2.3. स्वराज्य एवं आत्मनिर्णय के समर्थक

महामना मालवीय स्वराज्य को जन्मसिद्ध अधिकार मानने के लोकमान्य तिलक के उद्घोष के विनम्र समर्थक थे। उनके चिन्तन में भारत के लोगों की इस अधोदशा पर वेदना के स्वर स्पष्ट हैं कि वह स्वराज्य के योग्य हैं, यह सिद्ध करने के लिये उन्हें संघर्ष करना पड़ रहा है। भारत के हिन्दुओं ने लम्बे समय तक और उसके बाद मुसलमानों ने भी काफी समय तक इस देश को दक्षता के साथ चलाया है, लेकिन आज उन्हीं भारतवासियों की स्वराज्य के लिये दीनता व्यथित करने वाली है।

मालवीय जी भारतवासियों को आत्मनिर्णय के अधिकार प्रदान किये जाने की माँग करते हैं और मानते थे कि आत्मनिर्णय के इस अधिकार से स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। पं0 मदन मोहन मालवीय जी ने 1918 में दिल्ली कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में यह आशा व्यक्त की थी।

'हमें यह जानकर प्रसन्नता है कि इंग्लैण्ड एवं फ्रान्स की सरकारों ने सीरिया तथा मेसोपोटामिया के सम्बन्ध में इन सिद्धान्तों (आत्म निर्णय) को लागू करना स्वीकार कर लिया है। इससे हमारी यह आशा दृढ़ हो गयी है कि इन्हें भारत के लिए भी लागू किया जायेगा। जब मैं इस नगर में, जो हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों ही युगों में भारत की राजधानी रहा था, खड़ा होकर सोचता हूँ तो मेरा हृदय अकथनीय दुःख और लज्जा से भर जाता है। हिन्दुओं ने लगभग चार हजार वर्ष तक इन विशाल साम्राज्य पर शासन किया था और मुसलमान भी कई सौ वर्षों तक शासन करते रहे। किन्तु हम उनकी सन्तान अपनी प्राचीन स्थिति से इतने गिर गये हैं कि हमें अपने सीमित स्वराज की योग्यता सिद्ध करने के लिए भी विवाद खड़ा करना पड़ रहा है। किन्तु इस समय जिन लोगों के हाथों में देश एक शासन की बागडोर है वे इतने अविज्ञ हैं कि यदि मेरे पास समय होता तो मैं अवश्य ही बतलाता कि अंग्रेजों के आने से पहले हमारे लोगों में–हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में–कितनी क्षमता थी।''

अतएव मालवीय जी का यह स्पष्ट मानना था कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को लागू करके ही हम स्वराज्य के जन्मसिद्ध अधिकार की प्राप्ति कर सकते हैं। उनका यह भी अटूट विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की न्यायोचित व्यवस्था को कायम रखने का भी यही एकमात्र उपाय है। भारतवासियों को भी अधिकार है कि बिना किसी बाह्य दबाव अथवा हस्तक्षेप के अपने राजनीतिक जीवन का संचालन अपनी इच्छानुसार कर सकें। तभी ईश्वरीय योजना के अनुरूप भावी व्यवस्ता को भारतवर्ष में लागू किया जा सकेगा, इसके सपूतों को न्याय, सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता से साक्षात्कार हो सकेगा। इन्हीं तर्कों के आधार पर मालवीय जी ने भारतवासियों के राजनीतिक जीवन के योजनाबद्ध एवं न्यायसंगत संचालन हेतु राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को तुरन्त कार्यान्वित किये जाने पर बल दिया। उन्होंने जापान, ईरान के उदाहरणों से ब्रिटिश सरकार द्वारा सबक लेने एवं भारतीय में अपने अधिकारों एवं शक्तियों के आग्रह के प्रति जन इंकार एवं विद्रोह को न उभरने देने के लिए आगाह किया। इस दृष्टि से उन्होंने दो तर्क रखे। प्रथम, रानी विक्टोरिया की घोषणा में इन अधिकारों का वचन दिया गया था। द्वितीय, भारतवासी इस धन्ती की सन्तान होने के नाते इन अधिकारों के हकदार हैं। मालवीय जी दादा भाई नौरोजी से इस बात में सहमत दिखे कि स्वराज्य ही उन बुराईयों को दूर करने का मुख्य उपाय जिनके शिकार भारतवासी दीर्घकाल से बने हुए हैं।

14.2.4 लोकतन्त्रवादी

महामना मदन मोहन मालवीय एक लोकतंत्रवादी थे, लेकिन वह उग्र लोकतंत्रवादी नहीं कहे जा सकते। प्रतिनिधि सभाओं में भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने की माँग का समर्थन करते हुये उन्होंने कांग्रेस के 1887 के अधिवेशन में कहा कि हम वही माँग रहे हैं, जिसका उपभोग स्वयं ब्रिटेन के लोग करते हैं। जहाँ जनप्रतिनिधि शासन में हिस्सेदार होते हैं, वहाँ जनाकांक्षाओं एवं जनभावनाओं के अनुरूप कार्य होता हैं। वह मानते थे कि ब्रिटिश प्रशासक कितने ही उदार एवं न्यायशील क्यों न हों, लेकिन इसे प्रतिनिधि सभाओं में भारतवासियों के प्रतिनिधित्व के औचित्य को खारिज नहीं किया जा सकता। सीमित प्रतिनिधित्व के अवसर की सम्भावनाओं के संदर्भ में मालवीय जी ने जनप्रतिनिधित्व का मुखर समर्थन भले किया हो, लेकिन उन्हें जनता की व्यापक सहभागिता वाले जनप्रतिनिधि लोकतंत्र का उत्साही समर्थक नहीं कहा जा सकता। उनका यह मन्तव्य कभी न था कि जनता राजनीतिक क्षेत्र में सामूहिक रूप से उमड़ पड़े और उसमें अस्वाभाविक दृष्टि से हिंसात्मक प्रवृत्ति जागृत हो जावे। अपने लाहौर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने धर्म एवं अहिंसा की धारणाओं के आधार पर

आतंकवादियों तथा हिंसात्मक क्रान्तिकारियों की भर्त्सना की। उनकी भावना मान्टेस्क्यू और जैफर्सन के सदृश थी, वे उन उग्र एवं क्रान्तिकारी विचारकों से असहमत दिखे जिन्होंने जनता द्वारा व्यापक रूप से राजनीति में भाग लेने पर बल दिया।

फिर भी मालवीय जी का लेकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास एवं आस्था पर प्रश्न चिह्न नहीं खड़ा किया जा सकता क्योंकि उन्होंने देशवासियों के लिए आत्म निर्णय के सिद्धान्त की अक्षुण्णता पर बल दिया। भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के संचालन के लिए सांविधानिक आन्दोलन पर न कि हिंसात्मक एवं आतंकवादी कार्यवाहियों को स्वीकार किया। हिन्दू-धर्म में अगाध विश्वास होते हुए भी साम्प्रदायिक मामलों में वे काफी उदार थे। वे मुसलमानों पर हिन्दुओं की हुकूमत नहीं चाहते थे। बल्कि वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे एवं मुसलमानों की प्रत्येक उचित माँगों के माने जाने के सदैव पक्षधर रहे।

14.2.5 स्वतन्त्रता एवं संविधानवादी कार्यपद्धति के समर्थक

महामना मालवीय स्वतन्त्रता के अधिकार के समर्थक थे। व्यक्ति एवं राष्ट्र की स्वतन्त्रता में उनका विश्वास था। वह मानते थे कि पश्चिमी देशों में प्रयुक्त स्वतन्त्रता एवं लोकतंत्र के सिद्धान्तों से अंग्रेजी शिक्षा एवं साहित्य ने भारतीयों को भी भिज्ञ कराया है और भारतीयों का स्वाभाविक आकर्षण इन व्यवस्थागत मूल्यों के प्रति बढ़ा है। मालवीय जी को यह बात युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती थी कि अंग्रेज जिस अधिकार का स्वयं प्रयोग करते हैं, उनके लिये भारतीयों को पात्र नहीं मानते।

मालवीय जी ने निःसंकोच रूप से यह स्वीकार किया कि शिक्षित भारतवासियों द्वारा स्वराज्य की जो माँग की जा रही है वह ब्रिटिश शैक्षिक, साहित्यिक एवं लोकतांत्रिक उदारवादी प्रक्रिया का परिणाम है। कांग्रेस के 1887 के अधिवेशन को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि "जब हम यह माँग करते हैं कि राज्य की परिषदों में जनता के प्रतिनिधि जायें तो हम केवल उसी चीज की मांग कर रहे हैं जिसे यूरोप ही नहीं, अपितु अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा लगभग सम्पूर्ण जगत् ने एक स्वर से किसी देश के सुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक घोषित किया है; क्योंकि जहाँ जनता के प्रतिनिधियों को प्रशासन में भाग लेने दिया जाता है, वहीं जनता की आवश्यकताओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं और शिकायतों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, सही ढंग से समझा एवं पूरा किया जा सकता है।"

मालवीय जी का यह स्पष्ट मत था कि शासकों के उद्देश्य कितने ही उदार एवं लक्ष्य कल्याणकारी क्यों न हों फिर भी शासन की परिषदों में देशवासियों का प्रतिनिधित्व होना आवश्यक ही नहीं, बल्कि शासकों एवं प्रशासकों के हित में भी होता है। इस दृष्टि से अंग्रेज शासकों को वे इनके कर्त्तव्यों एवं उद्देश्यों के प्रति जाग्रत करना चाहते थे। उन्होंने 1891 के कांग्रेस अधिवेशन को संबोधित करते हुए कहा था कि 'हम अंग्रेजों से जो हमारे बन्धु-बान्धव हैं यह अपील करते हैं कि वे इस देश के प्रशासन को बुद्धि, न्याय तथा सामान्य सूझ-बूझ के अनुकूल बनाए, उन श्रेष्ठ सिद्धान्तों के अनुरूप ढालें जिन पर उन्हें सदैव गर्व रहा है। और जिनके कारण वे संसार इस उच्च स्थिति को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।" इसी सन्दर्भ में 1919 में भारतीय विधान परिषद् में रौलेट एक्ट को पारित करने के विरोध में जो उन्होंने अपना ऐतिहासिक सम्भाषण प्रस्तुत किया था उससे स्पष्ट है कि वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उत्कंट समर्थक एवं पोषक थे।

मालवीय का स्वतन्त्रता और सांविधानिक कार्यप्रणाली में पूरा विश्वास था। उनका विश्वास था कि शिक्षित भारतीयों को ऊँचे पदों तथा विधान परिषदों में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाये। उनका यह भी मानना था कि देशवासियों को गवर्नरों एवं गवर्नर-जनरल की कार्य-परिषद में उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन को उचित ठहराया एवं यह आशा व्यक्त की कि

हमारे शासक देशवासियों की भावनाओं को समझेंगे और इनकी भावनाओं का समादर करके हुए उनके आत्मनिर्णय के अधिकार एवं उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी का उचित अवसर प्रदान करेंगे, जिससे उनमें उग्र विरोध के लक्षण न पैदा होने पाए। ये सशस्त्र क्रान्ति के विरोधी थे और अहिंसा तथा धर्म के आधार पर आतंकवाद का विरोध करते थे। इसी कारण उन्होंने शासक एवं शासित दोनों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक प्रक्रिया तथा स्वतन्त्रता की वकालत की।

महामना की कार्यशैली संविधानवादी थी। किसी तरह की उग्रता एवं आक्रामकता न उनके चिन्तन में की और न तो कार्यशैली में वह संविधान प्रदत्त अधिकारों के भीतर कार्य करने के कायल थे। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार के गांधी जी के आन्दोलन का भी समर्थन नहीं किया था। वह असहयोग के भी खिलाफ थे और अपनी बात धारा सभाओं में रखने के पक्षधर। 1902 में प्रांतीय विधान सभा और 1910 में इम्पीरियल लेजिसलेटिव कौन्सिल एवं 1924 में सेन्ट्रल एसेम्बली के सदस्य चुने गये। इस तरह लम्बे समय उन्होंने धारा सभाओं में रहकर काम किया। वह कांग्रेस के नरमदलीयों की भाँति लगातार जहाँ सरकार एवं संविधान के सहयोगी की भूमिका निभाते रहे, वहीं आगे चलकर भी उन्होंने स्वराज्य दल वालों की नीति के अनुरूप सरकार एवं संविधान से सहयोग की नीति पर चलते हुये सेन्ट्रल एसेम्बली की सदस्यता ग्रहण की।

14.2.6 राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के समर्थक

मालवीय जी देश का नैतिक, बौद्धिक एवं आर्थिक पुनर्निर्माण चाहते थे। इसके लिये वह राजनीतिक सुधारों का जहाँ समर्थन करते हैं, वहीं आम जनता में लोक कल्याण की चेतना एवं लोक-सेवा की भावना का विकास किये जाने के पक्षधर थे। इसके लिये वह शिक्षा के आधुनिक स्वरूप का जहाँ विकास चाहते थे, वहीं भारत के त्वरित औद्योगिक विकास का सपना देखते थे। शिक्षा के माध्यम से वह सशक्त आधुनिक बौद्धिक विकास लाना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने देश के सबसे बड़े आधुनिक शिक्षा से जुड़े विश्वविद्यालय की स्थापना काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में की जो भारतीय आधुनिकीकरण की अग्रणी शिक्षा संस्था रही है। औद्योगिक विकास के लिये उन्होंने औद्योगिक आयेग का एक प्रतिवेदन देकर भारत के औद्योगिक विकास के ठोस प्रयासों की माँग की थी, लेकिन वह मानते थे कि इस दिशा में तेजी से प्रयास भी किये जा सकते हैं। उनका विश्वास था कि औद्योगिक विकास हेतु अपेक्षित पूँजी प्रबन्धन भारत में भी सम्भव हो सकता है। आवश्यकता है प्रौद्योगिक एवं वैज्ञानिक प्रतिभाओं के निर्माण की जो राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इस युगदायित्व को पूरा करे। वह राष्ट्रनिर्माण के काम में शिक्षा को इसीलिये विशेष महत्त्व देते हैं।

मालवीय जी ने जहाँ राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए औद्योगिक विकास पर बल दिया वहीं उन्होंने शारीरिक विकास के कार्यक्रमों पर भी बल दिया। उनका विश्वास था कि देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण और प्रगति के लिए धार्मिक उत्साह और समर्पण की भावना से काम करना आवश्यक है। इसी कारण गुरु गोविन्द सिंह की भक्तिभावना एवं अपने अनुयायियों के साथ उनके समानता के व्यवहार से मालवीय जी अत्यन्त प्रभावित थे। 1908 लखनऊ में हुए द्वितीय उत्तर प्रदेशीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "आपसे हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसे संगठनों का निर्माण करें जो वर्ष भर राजनीतिक कार्य चलाते रहें और सार्वजनिक हित की समस्याओं पर लोकमत को शिक्षित करने का प्रयत्न करते रहें। आप सफाई, शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के लिए संगठन बनायें और ऐसी संस्थाओं का निर्माण करें जो सहकारी आन्दोलन, पंचनिर्णय एवं शारीरिक शिक्षा को प्रोत्साहन दें। अन्त में, मैं आप से यह स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूँ कि जनता को वास्तविक सुख केवल भौतिक लाभों से ही नहीं प्राप्त हो सकता, और वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्त करने योग्य हैं, मनुष्य के प्रति उन शाश्वत कर्त्तव्यों का पालन करके उपलब्ध किये जा सकते हैं जो धर्म ने हमारे लिए

निर्धारित किये हैं। यदि हम धार्मिक कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते तो हम जो भी काम करेंगे उनमें हमारी रुचि स्थायी नहीं होगी।'' मालवीय जी ने प्राविधिक शिक्षा को भी अत्यावश्यक बतलाया। अतएव मालवीय जी ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं देश एक नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विकास के साथ ही भारत में स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय पर बल दिया जिससे लोगों को वे सभी सुविधाएं प्राप्त हों जो अंग्रेजों को मीली हुई है।

14.3 मूल्यांकन

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पं० मदन मोहन मालवीय अप्रतिम प्रतिभा, सत्यनिष्ठा एवं निर्भीकता के ज्वलन्त प्रतीक हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधारों में उनका अद्वितीय स्थान है। उनके संबंध में श्रीमती एनी बेसेण्ट ने ठीक ही कहा है कि उन्होंने अपना सांसारिक जीवन और स्वास्थ्य, अपनी सर्वशक्ति तथा विलक्षण वाणी को देशसेवा में लगा दिया। उनका जीवन धर्म से ओत-प्रोत था और परोपकार दानशीलता, विलक्षण प्रतिभा, उत्कट न्यायप्रियता उनके व्यक्तित्व के प्रभाव शाली गुण थे।

महामना मालवीय महात्मा गाँधी के समकालीन थे तथा दोनों ही विभूतियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध एवं गहरे वैचारिक मतभेद बने रहे। समय-समय पर दोनों ही विभूतियाँ सहयोगात्मक भूमिका को भूमिका निभाती रहीं, लेकिन उनमें राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में दोनों की सोच एवं विश्वास के बीच गहर मसला था। लाला लाजपत राय इन महान विभूतियों पर विचार करने हुए लिखा कि 'मेरे लिए देश में महात्मा गाँधी तथामालवीय जी दो महानतम विभूतियाँ हैं। मैं उनसे जितना प्रेम और उनकी जितनी श्रद्ध करता हूँ उतनी निजी अथवा सार्वजनिक जीवन में किसी की नहीं करता।'' वहीं मालवीय जी विषय में आचार्य पी0 सी0 राय ने कहा था–''महात्मा गाँधी के बाद कोई ऐसा अन्य व्यक्ति पाना कठिन है जिसने मालवीय जी के समान त्यागद एवं बहुरपक्षीय कार्य किये हों।''

मालवीय जी अपने समय के एक प्रतिष्ठित सार्वजनिक नेता थे। वे बुद्धिमान राजनीतिज्ञ तथा प्रकाण्ड विद्वान थे। हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के शाश्वत मूल्यों में उनका गररा विश्वास था, जो उनकी जीवनचर्या तथा कार्य-पद्धति का मुख्य आधार था। वे ईश्वरोन्मुखी धार्मिक व्यक्ति थे। यद्यपि वे सांस्कृतिक पुरातनवाद पर जोर देते थे फिर भी उनका हृदय अत्यन्त उदार, न्यायप्रिय एवं विरोधियों तथा आलोचकों के भी प्रेम व श्रद्धा का प्राप्त कर लेने की अद्भुत शक्ति से परिपूर्ण था। उन्होंने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, प्रान्तीय सम्मेलनों, उत्तर प्रदेश के विधान परिषद एवं साम्राज्यीय विधान परिषद में बड़ी ही प्रभावशाली भूमिका का निर्वहन किया। जब भारतीय राजनीति में सत्याग्रह प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ तो उस समय की महत्त्वपूर्ण शक्तियों के साथ मालवीय जी का सम्पर्क टूट गया। फिर भी वे मध्यस्थ की भूमिका का निर्वहन करते रहे। उन्हें न तो कांग्रेस की बदली हुई उग्र भावना से सहानुभूति थी और न उसकी मुसलमानों के प्रति रियायत की नीति से। उन्होंने 1946 में अपने अन्तिम सार्वजनिक वक्तव्य में हिन्दुओं को देश की भयंकर रूप से विक्षुब्ध साम्प्रदायिक स्थिति में एक होने के लिए ललकारा था।

भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में मालवीय जी का मुख्य योगदान उनका व्यापक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त था। स्टाईन, हार्डेनबुर्ग, गेटे एवं फिख्टे की भाँति मालवीय जी भी संस्कृति को राष्ट्रवाद का आधार मानते थे। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक विरासत एवं महान उपलब्धियों के प्रति उनके मन में गहरी श्रद्धा थीः साथ ही साथ उन्हें देश की भावी प्रगति और सृजनात्मक शक्तियों में भी विश्वास था। वे एक धर्मनिष्ठ एवं नैतिक जीवन शैली में विश्वास रखते थे, इस कारण विशुद्ध भौतिकवादी अथवा ऐहिकवादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं कर सकते ते। वे हिन्दू संस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद को मानते थे: किन्तु साथ ही साथ वे देश के अन्य सम्प्रदायों के प्रति भी निरपेक्षतः उदार तथा न्यायोचित

व्यवहार करने के पक्षधर थे।

14.4 सारांश

इस प्रकार स्पष्ट है कि महामना मालवीय जी हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाले सांस्कृतिक राष्ट्रवादी थे। वह धर्म को व्यक्तिगत एवं राजनीतिक जीवन का आधार मानते थे। इसके बावजूद उनके चिन्तन में उग्रता या किसी आक्रामकता की जगह लोकतंत्रवादिता, सहिष्णुता, समन्वय, संविधानवादिता की रीतिनीति का गहरा प्रभाव था। वह जहाँ परम्परावादी थे वहीं आधुनिक राष्ट्रनिर्माण के आकांक्षी राष्ट्रनिर्माता भी थे जिसने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिये ठोस योगदान दिया।

14.5 उपयोगी पुस्तकें

1. V. S. Narvane, Modern Indian Thought : A Philosophical Survey, Asia, Bombay 1969.
2. M. N. Jha, Modern Indian Potitical Thought, Meenakshi, Meerut, 1975.
3. Sankar Ghose, Modern Indian Political thought, Allied publishers, N. Delhi 1984.
4. R. N. Tripath, Thirty Days with Malvia Ji, Swaraj Publishing House, Varanasi.
5. वी0 पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 1995।
6. थामस पेन्थम और के0 एल0 डायश (सपा0), माडर्न इण्डियन पोलिटिकल थाट, सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1986।

14.5 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महामना मदन मोहन मालवीय के राजनीतिक विचारों का वर्णन कर।
2. महामना मदन मोहन मालवीय के राष्ट्रवाद पर प्रकाश डालें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में मदन मोहन मालवीय की भूमिका एवं चिन्तन पर टिप्पणी लिखें।
2. मदन मोहन मालवीय के 'स्वदेशी' सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए,

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से किस विचारधारा का मालवीय जी ने समर्थन नहीं किया है?

   (अ) हिन्दू संस्कृति राष्ट्रवाद

   (ब) लोकतंत्रवाद

   (स) वर्ग संघर्ष

   (द) संविधानवादी कार्यपद्धति

2. मालवीय जी किस वर्ष सेण्ट्रल एसेम्बली के सदस्य चुने गये थे?

(अ) 1902

(ब) 1910

(स) 1919

(द) 1924

14.6 प्रश्नोत्तर

1. (ब)

2. (द)।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAPS-113
आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन–II

खण्ड

2

स्वातंत्रोत्तर चिन्तन

इकाई 15

सर्वोदय दर्शन 5

इकाई 16

जवाहर लाल नेहरु 23

इकाई 17

डॉ0 भीमराव अम्बेडकर 40

इकाई 18

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन 64

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो. के. पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ला, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो. आर.के. मणि त्रिपाठी — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

प्रो. एल.डी. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

प्रो. एस.एम. सईद — विषय विशेषज्ञ
राजनीतिशास्त्र विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. एस. के. द्विवेदी — सम्पादक
राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

लेखक मण्डल

खण्ड एकः **डॉ. कमल कुमार**, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड दोः **प्रो. आर.के. मिश्रा**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 3 इकाई
खण्ड तीनः **डॉ. वी.के. राय, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद 4 इकाई
खण्ड चारः **प्रो. सतीश कुमार**, राजनीति शास्त्र विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी 4 इकाई
डॉ. वी.के. राय, रीडर, राजनीति शास्त्र विभाग, इला. विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
खण्ड पाँचः **डॉ. अशुतोष मिश्र, रीडर**, राजनीति शास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ 4 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

खंड 5 का परिचय : स्वातंत्र्योत्तर चिन्तन

इस खंड में हम स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के कुछ महत्त्वपूर्ण विचारकों और विचारधाराओं का परिचय प्राप्त करेंगे। इनमें से हम नेहरू और अम्बेडकर को आधुनिकतावादी और राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन तथा सर्वोदय को परम्परावादी मानते हैं। यद्यपि इस प्रकार का वर्गीकरण प्रायः सरलीकरण की दृष्टि से होता है और इसलिए भ्रामक ही होता है, फिर भी हम अध्ययन की सुविधा के लिए ऐसा प्रयास करते हैं। ध्यान देने वाली बात है कि इन विचारकों ने राष्ट्रीय राजनीति में भी सक्रिय हस्तक्षेप किया, यानी उनका चिंतन जनजीवन से जुड़ा है। हम पाएंगे कि सार्वजनिक सक्रियता की व्यस्तता के बाद भी किसी विचारक में बौद्धिक अनुशासन का अभाव नहीं है।

इस खंड का प्रारम्भ सर्वोदय विचारधारा से होता है, जिसने स्वतंत्र भारत में गांधीवाद का अनुकूलन किया। स्वराज्य तो आ गया था, अब राम राज्य पाने का प्रयास करना था। उसने गांधी जी की तरह ही भारतीय समाज के हर क्षेत्र में प्रभाव छोड़ा। सर्वोदय ने स्वैच्छिक संगठनों का प्रतिमान स्थापित किया, राजनैतिक दलों से अलग रहकर राजनीति में हस्तक्षेप किया और सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान के तौर पर भारत की भयंकर भूमि समस्या के शांतिपूर्ण समाधान का प्रयास किया। इसके पश्चात् हम नेहरू के विचारों की समीक्षा करेंगे। आधुनिक भारत के निर्माण में उनकी निर्णायक भूमिका है। उन्होंने औद्योगिक विकास के उत्प्रेरक के तौर पर केंद्र सरकार के संसाधनों का उपयोग किया, क्योंकि उस समय तक निजी पूंजी में वैसी क्षमता नहीं थी। इस प्रकार उन्होंने सार्वजनिक उद्यमों का एक संजाल खड़ा किया। आज भले ही हम सार्वजनिक उद्यमों को कम उपयोगी मानें लेकिन औद्योगीकरण के उस आधार के बिना आज भारत विकास के इस चरण तक नहीं पहुँच पाता। विदेश नीति में गुट-निरपेक्ष आंदोलन को उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बना दिया।

इस खंड के शेष भाग में हम डा0 अम्बेडकर और राजर्षि टंडन पर विचार करेंगे। उस अम्बेडकर को आज हम मुख्यतः दलितोत्थान का प्रेरक और प्रतीक मानते हैं, लेकिन संविधान निर्माता, विधिवेत्ता, शिक्षाशास्त्री और अर्थशास्त्री के तौर पर भी उनका उल्लेखनीय योगदान है। उन्होंने दलितों को जगाया, लेकिन सदैव ध्यान रखा कि वे राष्ट्रीय जीवन से अलग न हों। उनका जोर शिक्षा पर था। शिक्षा से ही वे आगे बढ़े थे और वे दलितों से भी यही अपेक्षा करते थे। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर उन्होंने विशेष अध्ययन और शोध किया। उन्होंने प्रयास किया कि भारत में जातिवाद का नाश हो और समतावादी समाज की स्थापना हो।

खंड के अंत में हम राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन के विचारों का अध्ययन करेंगे। राष्ट्रभाषा हिदी और देवनागरी को प्रतिष्ठित करने में उन्होंने अपना पूरा जीवन लगा दिया। उन्होंने हिंदी के लिए उस समय संघर्ष करना शुरू किया, जब हिंदी को अंग्रेजी ही नहीं, उर्दू से भी नीचे रखा जाता था। इस संघर्ष में उन्हें अंग्रेजी और उर्दू से और फिर गांधी जी की हिंदुस्तानी से भी लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी। उनके प्रयासों से ही भारतीय संविधान में "देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी" की इतनी स्पष्ट और निर्विवाद प्रतिष्ठा हो गयी कि हिंदी विरोधी राजनीतिज्ञ प्रयास करके भी हिंदी को हीन नहीं बना सके। राजर्षि टंडन के इस योगदान को हम सदैव श्रद्धा से याद करेंगे।

इकाई – 15 : सर्वोदय दर्शन

इकाई की रुपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 सर्वोदय का सिंहावलोकन

15.3 सर्वोदय की आधारभूत अवधारणा

15.4 सर्वोदय का अर्थशास्त्र

15.5 सर्वोदय की राजनैतिक मान्यताएँ

15.6 सर्वोदय, समाजवाद और मार्क्सवाद

15.7 भूदान आंदोलन : आरम्भ और औचित्य

15.8 ग्रामदान, सामुदायिक विकास और पंचायती राज

15.9 भूदान और ग्रामदान की समीक्षा

15.10. सर्वोदय के अन्य सरोकार–आचार्य कुल, खादी, शांति सेना, देवनागरी, स्त्री शक्ति, गौरक्षा

15.11 सारांश

15.12 उपयोगी पुस्तकें

15.13 सम्बन्धित प्रश्न

15.14 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

- इस इकाई से आपको स्वतंत्र भारत के एक अत्यंत महत्वपूर्ण आंदोलन का ज्ञान होगा, जिसने भारत की एक महत्वपूर्ण समस्या के शांतिपूर्ण समाधान का प्रयास किया। इस प्रयास ने साम्यवाद के हिंसक समाधान का एक विकल्प प्रस्तुत किया, जिसने पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित किया।

- इस आंदोलन के अध्ययन से आपको इस गम्भीर प्रश्न पर नये सिरे से सोचने का अवसर मिलेगा कि लोकतंत्र में दलगत राजनीति से अलग रहकर क्या किया जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में दो विकल्पों पर आप विचार करेंगे–(क) दलविहीन राजनीति भी प्रभावशाली हो सकती है, और (ख) अगर सदाशयता से प्रयास किया जाए तो सर्वदलीय सहमति की सम्भावना भी बन सकती है।

- आपने इस दशक में स्वैच्छिक संगठनों को अत्यधिक सक्रिय होते हुए देखा है। वस्तुतः सर्वोदय स्वतंत्र भारत का सर्वप्रथम और सर्वाधिक सक्रिय स्वैच्छिक संगठन माना जा सकता है। सर्वोदय का विचार था–'अ-सरकारी ही असरकारी होता है।' सर्वोदय के अध्ययन से आप गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों की वैचारिकी, कार्यप्रणाली और प्रभाविता से परिचित हो सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

सर्वोदय स्वतंत्र भारत की परिवर्तित परिस्थिति में गांधीवाद के प्रयोग का प्रयास है। स्वतंत्र भारत के सामने यह समस्या आयी थी कि उसको नेतृत्व देने के लिए गाँधी जी उपस्थित नहीं थे। सर्वोदय ने इस चुनौती का सामना किया। देश के सामने यह स्पष्ट नहीं था कि स्वतंत्रता पाने के बाद क्या किया जाए। सर्वोदय ने पाया कि सम्भवतः गांधी जी अपनी रणनीति में यह परिवर्तन करते–(1) चूँकि अब स्वतंत्रता मिल गयी है, इसलिए आंदोलन पर अधिक जोर न दिया जाए, (2) स्वतंत्रता आंदोलन राजनैतिक था, जबकि अब हमें रचनात्मक पक्ष पर जोर देना चाहिए। गाँधी जी का सुझाव था कि कांग्रेस को भंग करके लोकसेवा पर ध्यान देना चाहिए। इस विषय पर उन्होंने सम्मेलन बुलाया था, लेकिन उसके दो महीने पहले उनकी हत्या हो गयी। (3) गाँधी जी 'ग्रामीण गणराज्य' के सशक्त प्रवक्ता थे। स्वतंत्रता आंदोलन में गाँधी जी चाहकर भी ग्रामीण समस्याओं पर अधिक समय नहीं दे सके।

सर्वोदय आंदोलन ने गाँधीवाद के इस अपेक्षाकृत संशोधित स्वरूप को स्वीकार किया। वस्तुतः सर्वोदय प्रारम्भिक चरण में तो एक प्रयोग ही था। भूदान और ग्रामदान जैसे बड़े आंदोलनों के पहले कोई बड़ी योजना नहीं बनाई गई थी। उन्हें तात्कालिक घटनाओं ने जन्म दिया। यह भी संयोग था कि ग्रामदान के दौर में भारत सरकार ने सामुदायिक विकास योजना शुरू किया और फिर पंचायती राज की व्यवस्था आयी। उस समय एक विचारक जी0 रामचंद्रन ने कहा था कि भूदान और ग्रामदान तो गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम थे ही, उन्हें सामुदायिक विकास के रूप में "नेहरू जी के रचनात्मक कार्यक्रम" का साथ भी मिल गया। इस सर्वोदय यात्रा में बहुत कुछ स्वतः स्फूर्त और संयोगजन्य था। शायद इसे ही संयोग मान सकते हैं कि वर्धा के छोटे से क्षेत्र में निरंतर नये प्रयोग में लगे रहने और चर्चा से दूर रहने वाले विनोबा भावे ने उसी समय सर्वोदय समाज का नेतृत्व सम्भाल लिया।

इस प्रकार 1951 में भूदान के जन्म से उस दशक तक सर्वोदय में बहुत कुछ आकस्मिक, अप्रत्याशित और आश्चर्यजनक था। बंट्रेड रसेल, मार्टिन लूथर और कारेटा किंग और चेस्टर बोवेलेस जैसे पश्चिमी विचारकों ने उस समय सर्वोदय में पूरे एशिया के लिए आशा की किरण देखी। फिर भी सर्वोन्दय ने मूलतः भारतीय परम्पराओं की पुनर्जीवित और पुनरव्याख्यापित ही किया था। सर्वोदय ने अपनी विचारधारा की व्याख्या के लिये शायद ही कभी गैर-भारतीय प्रतीक, रूपक या मुहावरे की सहायता लिया हो। सर्वोदय का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान है। सर्वोदय ने प्रयास किया कि लम्बे अंग्रेजी शासन और औद्योगिक-उपभोक्तावादी मूल्यों ने जिन स्वस्थ भारतीय संस्कारों को मटमैला या विरूपित कर दिया है, उन्हें फिर से प्रस्तुत किया जाए। इन प्रतीकों में एक तो दान के ही बहुविध रूप थे–भूदान, ग्रामदान, श्रमदान, साधनदान, बुद्धिदान और सबसे ऊपर जीवनदान। सर्वोदय ने कृषि खेती, गौसेवा, प्राकृतिक चिकित्सा, सर्वधर्मसमभाव, अहिंसा, अपरिग्रह (कांचन मुक्ति और निधि मुक्ति), ब्रह्मचर्य, स्वैच्छिक निर्धनता, अभिध्यान, स्त्री 'शक्ति', मद्य-निषेध और चरखा आदि पर जोर दिया। भारतीय परम्परा में राज्य सत्ता को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। गाँधी जी ने सदैव माना कि व्यक्ति समाज के अधीन है। सर्वोदय ने इस विचार को और आगे बढ़ाया। गाँधीवाद और सर्वोदय का यह महत्वपूर्ण योगदान है।

15.2 सर्वोदय का सिंहावलोकन

सर्वोदय शब्द के प्रयोग का पहला प्रमाण लगभग दो हजार वर्ष पूर्व के एक जैन संत समंतभद्र की

पुस्तक में मिलता है। सत्याग्रह की तरह इस शब्द और संकल्पना को लोकप्रियता गांधी जी से ही मिली। उन्होंने जान रस्किन की पुस्तक 'अन टु दिस लास्ट' के गुजराती अनुवाद का नामकरण सर्वोदय किया था। रस्किन के विचारों को गाँधी जी ने तीन बिंदुओं में समाहित कर दिया जो सर्वोदय की मौलिक मान्यताएँ बन गयी हैं–

(i) सामाजिक हित में व्यक्तिगत हित समाहित है।

(ii) नाई और वकील के कार्यों का इस अर्थ में समान महत्व है कि दोनों को आजीविका का समान अधिकार है।

(iii) किसान, श्रमिक और दस्तकार का जीवन आदर्श है, क्योंकि वे श्रम से आजीविका कमाते हैं।

श्रम, सात्विक और सरल जीवन, न्यूनतम आवश्यकताओं और स्वैच्छिक निर्धनता को सर्वोदय ने व्यावहारिक आदर्श बनाया। गाँधी जी की हत्या के बाद मार्च 1948 में रचनात्मक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें सर्वोदय समाज का गठन किया गया। विनोबा के विचार से सर्वोदय समाज "सशक्त या निर्बल संगठन नहीं, बल्कि अ-संगठन" होगा, जबकि व्यवहारिक कार्यों के लिए मार्च 1949 के इंदौर के प्रथम अधिवेशन में अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ का गठन किया गया। सर्वोदय समाज नैतिक प्रेरणा का स्रोत है। वर्धा के गोपुरी केंद्र से इसने देश भर के कार्यकर्त्ताओं को दिशा दिया है। वल्लभस्वामी के संयोजकत्व में पहले से ही रचनात्मक आंदोलन में लगे चरखा संघ जैसे चार बड़े संगठनों को मिलाकर सर्वसेवा संघ का गठन किया गया।

इंदौर के स्थापना सम्मेलन के सभापति डा0 राजेंद्र प्रसाद थे, जबकि बाद के दो सम्मेलनों का सभापतित्व काका कालेलकर ने किया। अप्रैल 1951 में तेंलगाना के शिवरामपल्ली में आयोजित अधिवेशन से ही बड़े नाटकीय ढंग से भूदान की नींव पड़ी, जिसके बाद आगे के डेढ़-दो दशक तक सर्वोदय काफी लोकप्रिय रहा। विनोबा ने दिसम्बर 1951 से अपने पवनार आश्रम से भूदान यात्रा प्रारम्भ किया। समाज के 1954 के गया में आयोजित छठवें अधिवेशन में जय प्रकाश नारायण जीवनदानी बनकर सम्मिलित हो गए। विनोबा प्रायः हर अधिवेशन में कुछ नये कार्यक्रम रखते थे। सन् '54 तक भूदान के साथ ग्रामदान का अपेक्षाकृत अधिक क्रान्तिकारी कार्यक्रम जड़ जमा चुका था। 1955 (पुरी), 1956 (कांची) और 1957 (कलाडी) के अधिवेशनों में विनोबा ने निधि मुक्ति और तंत्र मुक्ति के विचारों को स्थापित किया। जबकि 1958 (पंढरपुर) और 1959 (अजमेर) के सम्मेलनों में शांति सेना पर काफी चर्चा हुयी। 1963 में मध्य प्रदेश के रामपुर में हुए सम्मेलन में खादी को लेकर नये कार्यक्रम बनाए गये। 1969 यानी गाँधी शताब्दी वर्ष में सर्वोदय सम्मेलन राजगीर में हुआ, जिसमें अवसर के अनुरूप भारत के राष्ट्रपति और दलाई लामा ने भी भाग लिया। यह सर्वोदय का चरम था और इसलिए अब उसमें वैचारिक शैथिल्य आना अस्वाभाविक नहीं था।

सर्वोदय के राजगीर सम्मेलन में तो सर्वथा स्पष्ट था ही, लेकिन बीज रूप में तो प्रारम्भ से ही सर्वोदय में सरकारी छाप उपस्थित थी। विनोबा ने शुरू में ही 'सत्याग्रह मंडल' का नाम अस्वीकार करके यह संकेत दिया था। वे खुले तौर पर पं0नेहरू को अपने से कहीं अधिक वैध रूप में गाँधी जी का उत्तराधिकारी मानते थे। धीरे-धीरे सर्वोदय कांग्रेस का अनुषांगिक संगठन जैसा दिखने लगा। प्रायः हर वर्ष पं0 नेहरू और बाद में शास्त्री जी और इंदिरा जी विनोबा से एकांत में भेंट करते थे। कांग्रेस कार्य समिति का अधिवेशन तक इस प्रकार आयोजित किया गया कि सदस्यगण उनसे भेंट कर सकें। धीरे-धीरे कांग्रेस की लोकप्रियता घटने लगी और सर्वोदय के साथ भी यही हुआ। जयप्रकाश नारायण के

साथ के सर्वोदयी सर्वोदय के भीतर ही विरोधी दल के रूप में काम करने लगे। इसी दलबंदी से खिन्न होकर विनोबा ने उसी अधिवेशन के बाद परमधाम (पवनार) लौटकर सूक्ष्म अकर्मयोग में लीन होने की घोषणा किया। यह स्पष्ट दिख रहा था कि भूदान-ग्रामदान 'सुलभ' रूप में भी असफल रहा। उसकी उपलब्धियां सरकारी कार्यक्रमों की तरह कागजों, आंकड़ों और समारोहों तक सीमित थीं। ग्राम दान तो क्या, कहने के लिए प्रखंड दान, फिरका दान, जिला दान और यहाँ तक कि बिहार के रूप में प्रदेश दान तक हो गया, लेकिन इसमें सच्चाई बहुत कम थी।

जेपी समर्थक सर्वोदयी चाहते थे कि सर्वोदय जनता में बढ़ रहे असंतोष की अभिव्यक्ति के लिए आंदोलन करे। सर्वोदय समाज के 1971 (नासिक), 1972 (नकोदर) और 1973 (कुरुक्षेत्र) के अधिवेशनों में यह दुविधा बनी रही। उसके बाद गुजरात के नव निर्माण आंदोलन और फिर बिहार के आंदोलन में क्रमशः रविशंकर महाराज और जय प्रकाश नारायण को जनता ने ही अपना नेता चुन लिया। विनोबा जी ने विवशता में बाद में कहा कि ऐसे आंदोलनकारी कम से कम आंदोलन के समय तक सर्वोदयी काम से अवकाश ले लें, लेकिन उस समय तक सर्व सेवा संघ में उर्ध्वाधर विभाजन की स्थिति उत्पन्न हो गयी। जेपी के साथ सिद्धराज ढढ्ढा, ठाकुरदास बंग और आचार्य राममूर्ति जैसे शीर्ष नेता थे। इसके अतिरिक्त अजीत भट्टाचार्य, बी जी वर्गीज़ और कुलदीप नैयर जैसे कांग्रेस-विरोधी बुद्धिजीवी भी जेपी के साथ थे।

1973–74 के गुजरात-बिहार के कांग्रेस-विरोधी आंदोलनों में जेपी गुट के सर्वोदयी लोगों ने बहुत सक्रिय भूमिका अपनायी, फिर 1975–77 के आपात काल के कष्ट सहे और बाद में जनता पार्टी के शासन (1977–1980) में सत्ता के लाभ भी लिये। इस तरह 1980 तक सर्वोदय के दोनों गुट कांग्रेस और जनता पार्टी से जुड़कर जनता के बीच में अपनी विश्वसनीयता खो चुके थे। पुराना गुट राजनीति से अलग रहने की बात करता था, जबकि जेपी दलहीन लोकतंत्र की, लेकिन व्यवहार में पाया गया कि दोनों गुट न केवल राजनीति में हैं, बल्कि दलों के दलदल में भी फँसे हुए हैं। इसके बाद सर्वोदय जनता के बीच से हटकर बहुत कुछ एतिहासिक और अकादमिक दिलचस्पी का विषय बनकर रह गया। सर्वोदय के अधिवेशन 1980 के बाद भी नियमित अंतराल में होते रहे हैं, जिसकी अध्यक्षता मनुभाई पांचोली, नारायण देसाई, विमला ठक्कर, डा0 उषा मेहता, त्रिचित्र भाई, ठाकुरदास बंग, गोविन्दराम देशपांडे और सुंदरलाल बहुगुणा आदि ने किया। आज सर्वोदय संगठन गैर सरकारी संगठनों की तरह प्रायः समाज के सभी क्षेत्रों में काम कर रहे हैं, लेकिन विनोबा या जेपी जैसे प्रखर नेतृत्व के अभाव में उसका प्रखर और एकीकृत रूप सामने नहीं आ पा रहा है।

15.3 सर्वोदय की आधारभूत अवधारणा

गाँधी जी ने 'हिंद स्वराज' में लिखा था कि भारत में "ऋषियों की वाणी राजाओं के तलवार से अधिक असरदार' रही है। ब्रिटिश शासन ने इस परम्परा को उलट दिया, जिसमें थोड़ा योगदान अंग्रेज शासन का और उससे बड़ा योगदान आधुनिकीकरण का था। वर्ष 1923 से 1929 तक गाँधी जी ने राजनीति से अलग रहकर रचनात्मक कार्यों पर जोर दिया। वैसे भी राजनैतिक सक्रियता के दौर में भी वे रचनात्मक कार्यक्रमों को अनदेखा नहीं करते थे। 1941 में उन्होंने सेवाग्राम से बारडोली की यात्रा के समय "रचनात्मक कार्यक्रम-अर्थ और महत्त्व" शीर्षक से एक पुस्तिका लिखकर अपने कार्यक्रमों को स्पष्ट किया। उसमें उन्होंने 13 रचनात्मक कार्यक्रम गिनाए थे, जिसमें उन्होंने 1945 में पांच कार्यक्रम और जोड़ दिये। गाँधी की हत्या के बाद इन कार्यक्रमों के आधार पर नवम्बर 1949 में काका कालेलकर की अध्यक्षता में वर्धा में 200 वरिष्ठ कार्यकर्त्ताओं ने विचार करके सर्वोदय योजना प्रस्तुत

किया। इस समिति में जेसी कुमारप्पा, शंकर राव देव, गुलजारी लाल नंदा, जी रामचंद्रन, श्री कृष्ण जाजू और प्रफुल्ल चंद्र घोष जैसे शीर्षस्थ सर्वोदयी थे। जनवरी 1950 में प्रकाशित यह योजना सर्वोदय की सर्वाधिक प्रामाणिक और विशद व्याख्या करती है।

इस व्याख्या के अनुसार साध्य के साथ साधन भी पवित्र होना चाहिए। दूसरी मान्यता है कि अधिकार से अधिक महत्व कर्त्तव्य का है। यदि इन मान्यताओं को पूरे समाज में लागू किया जाए तो "आप पायेंगे कि जीवन के सभी क्षेत्रों में आनन्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गए हैं।" सर्वोदय की तीसरी मान्यता है कि नैतिक तत्व भौतिक तत्व से अधिक प्रभावी होता है। सर्वोदय सुख और आनन्द, धन और समृद्धि, विवेक और ज्ञान में इसी आधार पर अंतर करता है। पश्चिमी सभ्यता ने भौतिक पहलुओं पर जोर देकर जो भी पाया है, वह अत्यधिक अस्थायी है। उसका जोर 'शक्ति' और 'गति' पर है, लेकिन इस बीच उसने उद्देश्य खो दिया है। उसने दुनिया पाने की मृगतृष्णा में "अपने आप को खो दिया है।" आतंकवादी प्रौद्योगिकी ने प्रकृति का शोषण करने और यहां तक कि प्रकृति को जीतने का दुस्साहस किया है, जबकि वास्तविकता में उसने पूरे समाज कि इस आधुनिकीकरण ने भारतीय शहरी वर्ग को अपने "मोहपाश में" जकड़ लिया है। अब इससे क्या फ़र्क पड़ेगा कि "विदेशी रॉकफेलर की जगह भारतीय रॉकफेलर आ गया है।" इससे केवल यही फर्क पड़ेगा कि हमने स्वराज्य पा लिया है, लेकिन यह राम राज्य नहीं है। सर्वोदय इसी स्वराज्य से राम राज्य की यात्रा है।

सर्वोदय की आधारभूत अवधारणा है कि सृष्टि को उपयोगिता और उपभोक्ता की दृष्टि से नहीं बल्कि पवित्रता की दृष्टि से देखना चाहिए। गाँधी जी ने कहा ता कि पृथ्वी माँ है, वह अपने सभी पुत्रों की आवश्यकताओं को पूरा करेगी लेकिन एक अकेले व्यक्ति की वासना के आगे शायद पूरी पृथ्वी के संसाधन कम पड़ जाएं। इसलिए सर्वोदय ने न्यूनतम आवश्यकताओं, मानवीय श्रम और स्वैच्छिक निर्धनता पर जोर दिया। विनोबा ने काफी लम्बे समय तक, एकदम साधनहीन होकर, खेती के कई प्रयोग किए। उन्होंने मलेरियाग्रस्त होने पर कुनैन की गोली लेने से इसलिए मना किया क्योंकि आप भारतीय को इतनी मामूली सुविधा तक नहीं मिली थी। सर्वोदय की मान्यता है कि श्रम ही यज्ञ है। श्रम की प्रक्रिया में ही हम प्रकृति से तादात्म्य करते हैं। आज विकास के साथ 'निर्वहनीयता' (सस्टेनेबिलिटी) की शर्त अनिवार्य रूप से जोड़ी जाती है, क्योंकि अनियंत्रित औद्योगीकरण ने पचास वर्षों में ही पृथ्वी के करोड़ों सालों के संसाधनों को लूट लिया और साथ ही पर्यावरणीय असंतुलन को जन्म दिया है। सर्वोदय ने इस समस्या को जन्म के पहले ही पहचान लिया था।

15.4 सर्वोदय का अर्थशास्त्र

सर्वोदय का अर्थशास्त्र प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग को मनुष्य की मूलभूत न्यूनतम सुविधाओं तक ही सीमित रखता है। मूलतः और प्रमुखतः मानवीय श्रम का उपयोग होगा, इसलिए भी संसाधनों का सीमित दोहन होगा। सर्वोदय अर्थशास्त्र के कुछ और महत्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं--

(क) अर्थशास्त्र समाजशास्त्र की शाखा है। सम्पत्ति सामाजिक रचना है। (ख) उत्पादन में पूँजी के साथ श्रम का भी कम से कम समान महत्व है। (ग) उत्पादन के समान वितरण का भी महत्व है। विनोबा का कहना था कि यदि भूदान में बंजर भूमि दान में मिल रही है तो भी कोई समस्या नहीं है क्योंकि "अगर देश निर्धन है तो निर्धनता का वितरण होना चाहिए।" इसी तरह से गाँधी जी ने कहा था कि हमारी नयी सोच में "हम वह नहीं पाना चाहेंगे, जो हम पा सकते हैं", क्योंकि हमारा मानदंड यह होगा कि क्या हमारे अन्य देशवासी भी वही सुविधा या सामग्री पा सकते हैं या नहीं। (घ) उपभोक्ता को उत्पादक भी होना चाहिए। सर्वोदय ने इसकी संकीर्ण और शाब्दिक व्याख्या किया है। उसके

अनुसार हर मनुष्य उपभोक्ता तो है, लेकिन उत्पादक वही है, जो भौतिक श्रम करता है। इस तरह बुद्धिजीवी को भी भोजन का अधिकार पाने के लिए अंशकालिक कृषक, अन्यथा श्रमिक और यह भी सम्भव न हो तो लोहार का काम करना चाहिए। यह सर्वोदयी विचार इस सीमा तक पहुँचा कि वस्त्र पहनने वाले को बुनकर भी होना चाहिए। निश्चित रूप से ये विचार आधुनिक समाज की जटिलता की उपेक्षा करते हैं, लेकिन इसके पीछे एक लम्बी भारतीय परम्परा ही नहीं, टाल्सटॉय के अन्नश्रम की अवधारणा, थोरो और रूसी विचारक टी एम बान्डरेफ जैसों की पाश्चात्य परम्परा भी है।

सर्वोदय समाज की योजना का हमने ऊपर उल्लेख किया है। अब हम उसमें दिये गए कुछ आर्थिक विचारों की चर्चा करेंगे। (क) गाँधी के शब्दों में "मनुष्य के इंजन की चालक शक्ति आत्मिक है। यह विचित्र इंजन वेतन के लालच या किसी दबाव में श्रेष्ठतम काम नहीं करता है।" यहाँ तक आते-आते सर्वोदय अर्थशास्त्र को समाज शास्त्र का नहीं, बल्कि नीतिशास्त्र का अंग बना देता है। (ख) सर्वोदय के अनुसार चूंकि मानव समुदाय में आधारभूत समानता है, इसलिए उनके आर्थिक स्तर में भी अत्यधिक असमानता नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर यांत्रिक समानता भी ठीक नहीं है। मध्यमार्ग ही ठीक है। प्रयास होना चाहिए कि (i) भौतिक और मानसिक श्रम को भुगतान में अत्यधिक असमानता न हो और (ii) विलासिता के लिए कोई छूट न हो। गाँधी जी का कहना था कि "अगर मैं अपने श्रमिकों को उचित वेतन दूँगा तो मैं अनावश्यक समृद्धि नहीं बटोर पाऊँगा, विलासिता पर पैसा बर्बाद नहीं कर पाऊँगा और इस तरह दुनिया की आम गरीबी को बढ़ा नहीं पाऊंगा....वास्तविक अर्थशास्त्र न्याय का अर्थशास्त्र है।" (ग) वास्तविक समृद्धि धन से नहीं, "स्वस्थ और गुणवान नागरिकों" से आती है।

अर्थशास्त्र के वित्तीय पक्ष से वितृष्णा की पराकाष्ठा हमें विनोबा में दिखती है। उन्होंने प्रारम्भिक वर्षों में मुद्रा को ही समाप्त करने का प्रयोग किया। बाद में उन्होंने कंचन मुक्ति और विधि मुक्ति का आंदोलन चलाया। उनका विचार था कि हरेक व्यक्ति को मुद्रा के स्थान पर ऐसे टोकने दिए जांए, जिस पर किये गये श्रम के समय का उल्लेख हो। उनकी कल्पना में उत्पादन और वितरण दोनों स्थानीय स्तर पर होंगे, इसलिए मौद्रिक अर्थव्यवस्था की जटिलता के बिना भी सिर्फ टोकेन के सहारे विनिमय हो आएगा। विनोबा यह भूल गए कि मुद्रा भी मूल रूप में टोकेन ही है। सर्वोदय ने यह सही समझा कि अर्थ व्यवस्था का उपचार समाज की पुनःरचना से ही हो सकता है। सर्वोदयी अर्थव्यवस्था के लिए पहले तो यह आवश्यक है कि हम समाज से सिर्फ अपनी आवश्यकता भर लेने की संतोषी प्रवृत्ति बनाएं, जबकि अभी हम अपनी क्षमता भर लेने की कोशिश करते हैं। गाँधी जी तो यहाँ तक कहते थे कि आदर्श अर्थव्यवस्था ग्रामीण ही हो सकती है, क्योंकि वहाँ विकेन्द्रीकरण होगा, सत्ता पर एकाधिकार की सम्भावना नहीं होगी और इस प्रकार एक स्वस्थ समाज आदर्श अर्थव्यवस्था को आधार प्रदान करेगा। चरखा इसी का प्रतीक था। इसी अर्थ में गाँधी ने कहा था कि "खादी वस्त्र नहीं विचार हैं।" विनोबा ने इसी तरह कहा था कि सरकार ने खादी कमीशन बनाया है, जबकि इस "खादी मिशन" चाहते हैं। वे कहते थे कि सरकार ने पहले "ग्रामोद्योग के पैर काट दिए और फिर उसे बैसाखी का सहारा दिया जा रहा है।"

सर्वोदयी अर्थव्यवस्था के लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जबकि आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण में यह असम्भव है। विनोबा तो यहाँ तक कहते थे कि अगर केन्द्रीकृत व्यवस्था में देशवासियों का सेवायोजन हो जाए तो वे अपने चरखे में आग लगा देंगे! उनके अनुसार पारम्परिक ग्रामीण व्यवस्था को नष्ट करके लोगों को बेरोजगार बनाया गया फिर यह भरोसा दिलाया जा रहा है कि बीस-बीस वर्षों में सभी हाथ को काम मिल जाएगा। अंत में सम्पत्ति की न्यासवादी धारणा पर भी विचार करना चाहिए।

यह विचार दो विरोधी विचारों को समन्वित करने की कोशिश करता है। सर्वोदय में एक विचार तो यह है कि "सम्पत्ति को सामाजिक नियंत्रण में होना चाहिए" और किसान को ही खेत का स्वामी होना चाहिए। इस विचार में समतावादी संकल्प है। भूदान का तो मूलमंत्र ही था–'सबै भूमि गोपाल की। चूँकि पृथ्वी मां है, किसान उसके पुत्र हैं, इसलिए "किसी पुत्र को अपनी मां की सेवा करने से वंचित नहीं किया जा सकता है।" दूसरी ओर सर्वोदय व्यवहारिक रूप से पूँजीपतियों-सामंतों से टकराव भी नहीं चाहता था।

स्वतंत्रता-संघर्ष के समय गाँधी जी ने पूँजीपतियों सामंतों समेत भारत के सभी वर्गों का एक व्यापक मंच बनाया था। यह सम्भव नहीं था कि स्वतंत्रता के बाद इन समृद्ध वर्गों के विरुद्ध कोई कठोर कारवाई की जा सके। वैसे भी सर्वोदय की आत्मा में ही अहिंसा और स्वैच्छिकता का भाव निहित था। इसलिए सर्वोदय हिंसक ही नहीं, कानूनी माध्यम से भी बड़ी निजी सम्पत्तियों के अधिग्रहण का समर्थन नहीं कर सकता था। विनोबा का यह भी कहना था कि "अधिग्रहण के लिए मुआवजा देना पड़ेगा, जिसका बोझ भी आम आदमी पर ही पड़ेगा।" इस प्रकार सर्वोदय भले ही कहता रहा हो कि खादी का सबसे बड़ा महत्व यह है कि "वह मिल के विरुद्ध खड़ा है", लेकिन वह पूँजीवाद के विरुद्ध प्रभावी प्रयास नहीं कर सकता था। इसी प्रकार सर्वोदय ने भले ही सम्पत्ति को 'सामाजिक रचना' मानकर 'सामाजिक नियंत्रण' में रखने की और विशेष रूप से भूमि पर तो निजी स्वामित्व को आद्यन्त अस्वीकार करने की बात चाहे जितने जोरदार ढंग से की हो, वास्तविकता में वह एक प्रभावहीन प्रवचन ही था...."मेरा उद्देश्य है कि मैं आप (सामंतों) के हृदय तक पहुंचकर उसे ऐसे बदलूँ कि आप अपनी सम्पत्ति को अपने किसानों का ट्रस्ट मानें और उसे उनके ही हित में इस्तेमाल करें।" सर्वोदय सिद्धांत समाज के समृद्ध लोगों के विरुद्ध अधिक से अधिक एक नैतिक चेतावनी देता है, जैसा गाँधी जी ने पूँजीपतियों को दिया था...."अगर (पूंजीपति) यह समझता है कि वह श्रमिकों को हटाकर पूरा मालिकाना हक अकेले ही पा आएगा तो यह सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को मारने वाली बात होगी।"

15.5 सर्वोदय की राजनैतिक मान्यताएँ

राज्य और राजनीति के बारे में सर्वोदय गाँधी जी से थोड़ा अलग दिखता है। गाँधी जी राज्य के विरोधी रहे, लेकिन राजनीति में सक्रिय रहे। सर्वोदय ने राज्य या कम से कम शासन का, कम से कम व्यवहारिक स्तर पर समर्थन किया, लेकिन राजनीति में सक्रियता नहीं दिखाई। कारण सैद्धान्तिक कम, व्यवहारिक अधिक था। सर्वोदय स्वतंत्र भारत का आंदोलन था, जहाँ शासन भारतीय था। व्यवहारिक स्तर पर विनोबा ने केन्द्र सरकार का विरोध कम ही किया। भारत सरकार की तमाम सैनिक कारवाइयों का समर्थन उन्होंने इस आधार पर किया कि इन कारवाइयों के पीछे कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष जन समर्थन अवश्य है। कई बार उन्होंने विदेश नीति में अहिंसा के प्रयोग को बहुत प्रभावी नहीं माना, यद्यपि एक बार जनमत तैयार हो जाने पर शांति के लिए अहिंसा का वही महत्व होगा जो "युद्ध के लिए अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र का होता है।" उन्होंने कई बार पंचवर्षीय योजनाओं पर तीखी टिप्पणी करने से यह कह कर मना किया कि आलोचना से "बुद्धिभेद पैदा करना" अच्छा नहीं है।

सैद्धान्तिक स्तर पर गाँधीजी की राजनैतिक मान्यताओं को ही सर्वोदय ने विस्तार दिया है। गाँधी जी राज्य को "एक आत्महीन यंत्र" मानते थे। उनका कहना था कि आदर्श यह नहीं है कि अच्छा शासन हो, बल्कि यह है कि शासन हो ही नहीं। वे थोरो की इस प्रसिद्ध उक्ति से सहमत थे कि जितना कम शासन हो, उतना ही श्रेष्ठ शासन होगा। गाँधी ने दार्शनिक अराजकतावाद में नैतिकता को प्रमुख स्थान दिया, जिस कारण से वे पारम्परिक अराजकतावादियों से अलग दिखते हैं। विनोबा के 'स्वराज

शास्त्र' में भी ऐसे ही विचार हैं। उनके अनुसार एक राज्य की दण्ड शक्ति है, दूसरी हिंसा की शक्ति है, लेकिन सर्वश्रेष्ठ तो जन शक्ति है, जिसे उन्होंने 'तीसरी ताकत' कहा। उनके अनुसार केन्द्रीकरण ने जनशक्ति को दबा दिया है। फिर कल्याणकारी राज्य के मिथक ने भी राज्य को सशक्त कर दिया है। सोवियत संघ के बारे में उन्होंने कहा था कि सैन्यीकरण से सुरक्षा मिलती है, मशीनीकरण से सुविधा और केन्द्रीकरण से दक्षता मिलती है, जिससे जनता भ्रमित होकर राज्य को एक आवश्यक और लाभकारी तंत्र मान लेती है। फिर राज्य ने व्यक्ति के मन में यह भय भर दिया है कि राज्य के न रहने पर आतंककारी अराजकता फ़ैल जाएगी। सर्वोदय इन मिथकों को तोड़ने का प्रयास करता है। उसके अनुसार एक बार राजनैतिक और आर्थिक–दोनों स्तरों पर शक्ति का विकेन्द्रीकरण हो जाए, तो वास्तव में राजनीति के स्थान पर 'लोकनीति' आ जायेगी। यहाँ विनोबा थोड़ा व्यवहारिक भी दिखते हैं। वे कहते हैं कि केन्द्रीय शासन अवश्य होगा लेकिन वह रेलगाड़ी के डिब्बों में लगी खतरे की जंजीर की तरह होगा।....''यात्री अकसर इस जंजीर को भूले रहते हैं, लेकिन संकट के समय वे इसका प्रयोग करते हैं।'' उन्होंने लिखा है कि समाज कुआँ है और राज्य बाल्टी। राज्य जनता से ही शक्ति प्राप्त करता है।

राजनीति को लोकनीति और शासन को अनुशासन में बदलने के लिए सर्वोदय ने विकेन्द्रीकरण, दल-निरपेक्षता या दलहीनता, सर्वसहमति या आम सहमति और अप्रत्यक्ष चुनाव आदि का समर्थन किया है। विनोबा ने दल निरपेक्षता और जयप्रकाश ने दलहीनता का विचार दिया। विनोबा ने दल-निरपेक्षता को दो रूपों में बताया है–(i) राष्ट्रीय विकास के कई आधारभूत कार्यों में मतभेद की आशंका ही नहीं है, इसलिए वहाँ दलों की आवश्यकता ही नहीं है, और (ii) जहाँ विवाद है, वहाँ भी अगर सदाशयता हो तो आम सहमति बन सकती है। विनोबा के अनुसार भूदान-ग्रामदान ऐसे ही आम सहमति के कार्यक्रम हैं, जिनको कांग्रेस ही नहीं, समाजवादी और जनसंघ के लोग भी मानते हैं। समाजवादी इन कार्यक्रमों को समतामूलक मानकर और जनसंघ के लोग इनको भारतीय संस्कृति के अनुकूल मानकर समर्थन देते हैं। आम सहमति के बारे में विनोबा का मानना था कि भले ही विमर्श में कितना भी समय क्यों न लग जाए, बिना आम सहमति के किसी भी कार्यक्रम को लागू नहीं किया जाना चाहिए।

सर्वोदय के अनुसार भारत को पाँच लाख गाँवों के परिसंघ के रूप में फिर से व्यवस्थित किया जाना चाहिए। शक्ति जनता के निकट होना चाहिए। ग्रामीण समाज में अभी भी सहकार और सामुदायिकता की भावना बची है, क्योंकि उनका जीवन अभी भी सरल है। स्वस्थ राजनीति के लिए ऐसा ही समाज होना चाहिए। जयप्रकाश ने समाज को ''समुद्री लहरों का संकेन्द्रीय वृत्त'' माना है, जो व्यक्ति से शुरू होकर बड़ी सामाजिक इकाइयों तक फैलता है और जिसमें व्यक्ति की छोटी इकाई बड़ी इकाइयों में तिरोहित होती हैं। विनोबा ने इसके लिए दूसरा उदाहरण दिया है। आदर्श समाज अनाज के दानों जैसा नहीं, बल्कि दूध जैसा होगा, जिसमें इकाइयों के बीच दूरी या अंतर नहीं होगी। प्रशासन माले के धागे जैसा होगा, जो फूलों के बीच छिपा रहेगा। सर्वोदय के कार्यकर्त्ता इस समाज के नैतिक प्रतिमान होंगे। विनोबा कहते हैं कि मनुष्य का शारीरिक ताप 98° फारेनहाइट के आस-पास टिका रहता है, क्योंकि उसको ऊर्जा देने वाला सूरज अत्यधिक तप्त है। सर्वोदय समाज को एक निश्चित आदर्श पर उसी स्थिति में टिकाये रख सकेगा, जब उसके कार्यकर्त्ता उस आदर्श से कहीं अधिक आगे हों।

सर्वोदय का विश्वास है कि अगर चुनाव आवश्यक हों, तो भी उन्हें गाँव के स्तर पर ही होना चाहिए। बाकी ऊपरी स्तर के चुनाव अप्रत्यक्ष तरीके से ही हों। सम्भवतः इस सर्वोदयी सिद्धांत का कारण यह था कि केवल ग्रामसभा के प्रत्यक्ष चुनाव राजनैतिक दलों के बिना हो सकते हैं, इसलिए केवल इसी स्तर पर सर्वोदय प्रत्यक्ष चुनाव का समर्थन करता है। सर्वोदयी साहित्य में चुनाव पद्धति पर काफी

सामग्री मिलती है। दादा धर्माधिकारी तो व्यवसायिक प्रतिनिधित्व तक का समर्थन करते हैं। फिर भी समग्र सर्वोदयी सोच में असाधारण अव्यवहारिकता और किंचित असावधान बुद्धि विलास दिखता है। ऐसा लगता है कि कुछ अलग दिखने के लिए ही सोचा जा रहा है और सबका उद्देश्य केवल राजनैतिक दलों को अवांछित दिखाना ही है। पहली बात तो यह है कि इन योजनाओं में गाँव के लोग केवल ग्राम सभा में वोट दे पायेंगे। दूसरी बात यह है कि अप्रत्यक्ष चुनाव ने सदैव भयंकर भ्रष्टाचार को बढ़ाया है। तीसरी बात राजनैतिक दलों से सम्बन्धित है। विनोबा को तो कांग्रेस के निकट माना ही जाता था, कांग्रेस का विरोध करने और दलहीन जनतंत्र का प्रखर प्रचार करने वाले जयप्रकाश जी ने भी 1977 के ऐतिहासिक अवसर पर केन्द्रीय सरकार के लिए जनता पार्टी का गठन करवाया। उस समय से आज तक सर्वोदय कांग्रेस और गैर-कांग्रेस खेमों में बँटा है। आप सहमति और विकेन्द्रीकरण पर भी प्रश्न उठते हैं। (1) अगर सम्भव हो, तो भी क्या यह उचित है कि भारत को पाँच लाख गाँवों का गणराज्य बना दिया जाए? (2) सर्वोदय का संगठन स्वयं केन्द्रीकृत था। सर्व सेवा संघ, गाँधी स्मारक निधि, गाँधी शांति प्रतिष्ठान और भूदान समिति–सभी केन्द्रीकृत संगठन थे। विनोबा स्वयं प्रदेश स्तर के निवेदकों की नियुक्ति करते थे। (3) 1970 से और विशेष रूप से 1973 के गुजरात-बिहार आंदोलनों के समय से स्वयं सर्वोदय में कभी सर्वसहमति नहीं बन पायी। (4) सभी मानते हैं कि सर्वसहमति हो तो बहुत अच्छा हो, लेकिन अगर सर्वसहमति नहीं है, तो देश के महत्वपूर्ण निर्णय कैसे होंगे? बहुत निर्णय के अतिरिक्त हमारे पास और कौन सा विकल्प है?

15.6 सर्वोदय, समाजवाद और मार्क्सवाद

सर्वोदय ने मार्क्सवाद और समाजवाद का विरोध मूलतः नैतिक आधार पर किया। सर्वोदय यह तो मानता है कि अर्थव्यवस्था और समाज में क्रांतिकारी बदलाव होना चाहिए। हम शांति की बात को बदलाव रोकने का बहाना नहीं बना सकते। विनोबा के अनुसार "शांति की बात करने वाले वस्तुतः यथास्थितिवादी हैं। वे मानव समाज के बदलाव से डरते हैं। इसके विपरीत वे (मार्क्सवादी, समाजवादी) हैं जो क्रांति करने के लिए अहिंसा की सीमा तोड़ने के लिए तैयार हैं।....लेकिन हम क्या हैं? हम शांति के साथ क्रांति करना चाहते हैं।" सर्वोदय की मान्यता थी कि हिंसक परिवर्तन चूंकि विवशता में और बाहरी तौर पर होगा, इसलिए टिकाऊ नहीं हो सकता। इसीलिए विनोबा ने मार्क्सवाद की सभी सफलताओं को "इतिहास का भटकाव" माना। चूँकि मार्क्सवाद पूँजीवाद से हिंसक संघर्ष की बात करता है, इसलिए अधिक से अधिक यह हो सकता है कि दोनों हिंसा की आग में नष्ट हो जाएं। सर्वोदय को समाजवाद-मार्क्सवाद के नैतिक उद्देश्यों पर आपत्ति नहीं है। विनोबा का कहना था कि परम्परावादी, सर्वोदयी और मार्क्सवादी–तीनों आदर्शवादी ("सतयुगवादी") हैं। अंतर यह है कि परम्परावादी के लिए यह आदर्श समाज भूत में था, मार्क्सवादियों के लिए भविष्य में है, जबकि सर्वोदय "वर्तमान सतयुगवादी" है। सर्वोदय की आपत्ति यह भी थी कि मार्क्सवाद राज्य की समाप्ति का भरोसा तो देता है, लेकिन वह भविष्य के गर्भ में हैं। फिलहाल तो मार्क्सवादी व्यवस्था में लोगों को अधिनायकवाद के अधीन ही रहना होगा। मार्क्सवाद यह भी नहीं बताता कि इतना दमनात्मक राज्य आखिर कैसे समाप्त हो जाएगा। सर्वोदय के अनुसार मार्क्सवाद में अच्छाई यह है कि वह व्यक्ति की अन्तर्निहित अच्छाई को स्वीकार करता है, क्योंकि अगर व्यक्ति मूलतः अच्छा नहीं है तो राज्य की आवश्यकता हमेशा रहेगी। सर्वोदय मार्क्सवाद के अंतिम उद्देश्य से भी सहमत है कि आदर्श राज्य में "व्यक्तियों का नहीं, वस्तुओं का प्रशासन" होगा। व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार लिया जाएगा और प्रयास होगा कि उसको आवश्यकतानुसार दिया जाए। एक प्रकार से सर्वोदय मार्क्सवाद से अधिक व्यवहारिक है। विनोबा कहते हैं कि पाँचों उंगलियाँ बराबर नहीं होतीं,

लेकिन उनमें बहुत बड़ा अंतर भी नहीं होता।

विनोबा ने मार्क्सवाद को बहुत महत्व दिया। इसीलिए उन्होंने सर्वोदय को साम्यवाद की शैली में 'साम्य योग' का नाम दिया। जयप्रकाश नारायण को काफी समय तक मार्क्सवादी-समाजवादी रहे ही थे। उनके नेतृत्व ने सर्वोदय को मार्क्सवाद के महत्व से परिचित करवाया।

15.7 भूदान आंदोलन : आरम्भ और औचित्य

भूदान और ग्रामदान सर्वोदय के सबसे बड़े आंदोलन थे, जिन्होंने एक समय क्रांति का तूफानी तेवर पाया था। विनोबा ने इसे "भू-क्रान्ति" कहा था, जिसमें "करुणा के काम" पर जोर न होकर "करुणा के राज्य" पर जोर होगा। यह "प्रेम की लूट" थी। इसका परिणाम यह होता कि ज़मींदार, बड़े-छोटे किसान और भूमिहीन मजदूर–सभी वर्ग समाप्त होकर "भूमिपुत्र" के सर्वव्यापी वर्ग में समाहित हो जाते। इसे आंदोलन में सर्वोदय के दस हजार जीवनदानी कार्यकर्त्ता लगे रहे। 1954 में बोधगया में 600 कार्यकर्त्ताओं के साथ जेपी के शामिल हो जाने पर इस आंदोलन को और तेजी मिली। उसके पहले विनोबा बिहार में लगभग ढाई साल पदयात्रा कर चुके थे। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि 1969 के राजगीर अधिवेशन में बिहार-दान तक की घोषणा हो गयी। कम से कम बिहार में इस आंदोलन के कारण जमीन के दाम गिरने लगे थे। विनोबा 1950 से 1970 तक तो बीस साल तक तपस्वी की तरह गाँवों की पदयात्रा करते रहे। उन्हें लगभग सभी पंद्रह भारतीय भाषाओं का काम चलाऊ ज्ञान था। हिंदी भाषी क्षेत्र में वे रामचरित मानस से और तमिलनाडु में वे तिरुवक्कम से दृष्टांत देते थे। उन्होंने ग्रामीण भारतीय समाज के मर्म को छुआ। उनके वक्तव्य, व्यक्तित्व और कृतित्व का जनता पर तलस्पर्शी प्रभाव पड़ता था।

भूदान का जन्म सर्वोदय के 1951 के शिवरामपल्ली (हैदराबाद) के तीसरे अधिवेशन के समापन के कुछ दिन बाद 18 अप्रैल को उसी तेलंगाना के पोचमपल्ली (नलगोंडा) गांव में हुआ। उस अधिवेशन के अंतिम दिन विनोबा ने अचानक ही तेलंगाना की पदयात्रा करने की घोषणा किया। इसी यात्रा के दौरान पोचमपल्ली गांव की एक सभा में एक भूमिहीन मजदूर ने उनसे कहा कि अगर उसको थोड़ी भी जमीन मिल जाए तो उसका जीवन सार्थक हो जाएगा। वहाँ उपस्थित रामचंद्र रेड्डी नाम के एक बड़े किसान ने उसी समय बाबा को सौ एकड़ जमीन देने का प्रस्ताव कर दिया। उस समय तेलंगाना में अराजकता थी। निजाम के रजाकारों के दमन के लिए सरकार ने 'पुलिस एक्शन' किया था, जिसका असर वहाँ के कम्युनिस्ट विद्रोह पर भी पड़ा। कभी वहाँ साम्यवादियों के साथ छोटे किसान और मजदूर शक्तिशाली हो जाते और कभी पुलिस की सहायता से बड़े और मंझोले किसान शक्तिशाली हो जाते। विनोबा को भारतीय गांवों की अच्छी समझ थी। उन्होंने इस परिप्रेक्ष्य में ही उस घटना के निहितार्थ को समझा। उस रात वे सो नहीं पाये। उन्हें इस बात का तनाव नहीं था कि दस हजार वर्गमील में फैले पूरे तेलंगाना के गांवों में आग लगी है। वे मानते थे कि व्यापक बदलाव की प्रक्रिया में ऐसा होता ही है। उन्हें लगता रहा कि कोई रास्ता निकल रहा है। उसी बेचैनी में उन्हें भगवान ने दर्शन दिए और कहा कि तुम भूमि मांगों और इस कर्म में संकोच, शर्म या संदेह को स्थान न दो। उन्हें इस दैवीय व्यवस्था पर विश्वास था समस्या के आस-पास ही समाधान होता है, दैवीय व्यवस्था अधूरी नहीं होती; वह शिशु को भूख देती है तो माँ में ममता भी भर देती है। उसी समय उन्होंने भूदान का संकल्प लिया।

भारत की भूमि समस्या पर विनोबा को बहुत कुछ अपनी ओर से सोचना पड़ा, क्योंकि इस प्रश्न पर गाँधी जी अधिक समय नहीं दे सके थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1949 में जमींदारी का उन्मूलन किया

गया। उस समय कई जमींदारों ने किसान के रूप में जमीन का काफी हिस्सा बचा लिया था। उसके बाद 1950 से प्रांतीय सरकारों ने विधायन के द्वारा हदबंदी और बटाईदारी की व्यवस्था बनायी, जिससे भूस्वामियों (पीजेंट-प्रोपराइटर) का वर्ग सशक्त हुआ। इसी वर्ग ने अधिक अन्न उपजाओं, सामुदायिक विकास और हरित क्रांति जैसी सरकारी योजनाओं में सक्रिय भूमिका निभाई। भूमि सुधार यहीं आकर रुक गया। ग्रामीण ढाँचे में सबसे नीचे पड़ने वाले भूमिहीन श्रमिकों और सीमांत कृषकों की बदहाली बनी रही। विनोबा का समाधान इस प्रकार था। भारत में लगभग 30 करोड़ कृषि योग्य भूमि है और लगभग एक करोड़ भूमिहीन श्रमिक-सीमांत कृषक हैं। अगर भूस्वामी अपनी भूमि का छठवां भाग दान कर दें तो वंचित वर्ग को पाँच एकड़ असिंचित (या एक एकड़ सिंचित) भूमि मिल जाएगी।

बाबा विनोबा ने भूदान-ग्रामदान की विस्तृत व्याख्याएँ की हैं, जिन्हें नौ खंडों में 'भूदान-गंगा' शीर्षक से निर्मला देशपांडे ने संकलित किया है। हम इन अवधारणाओं की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। बाबा का कहना है कि भारतीय परम्परा में कृषि सर्वाधिक मौलिक काम है। 'जजमान' के रूप में किसान ही पूरी ग्रामीण व्यवस्था का केन्द्र था। कृषि और कृषभ (बैल)–दोनों 'कृ' धातु से बने हैं–अंतर इतना है कि एक हल के पीछे है और दूसरा हल के आगे। अब विनोबा भूमि और दान को जोड़ते हैं। भारतीय परम्परा में दान पुण्य-कर्म है और भूदान तो महानतम पुण्य का काम है। महाभारत में भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं कि भूमि का दान सभी प्रकार के दानों में उत्कृष्टतम है। इसी ग्रन्थ में पृथ्वी भी यही कहती है। विनोबा कहते हैं कि भारतीय ग्रन्थों में दान की महिमा गायी गयी है। अपरिग्रह एक व्यवहारिक आदर्श है। संचय बीमारी का संकेत है, जैसे शरीर में खून एकट्ठा होकर सूजन पैदा करता है। वे कहते हैं–लक्ष्मी पर अधिकार केवल विष्णु का है। भूमि पर तो सदैव ही लोकहित की मर्यादा रही है। भूदान इसी मर्यादा की आधुनिक अभिव्यक्ति है। यह "प्रजासूय यज्ञ" है, जो हमारी परम्परा में प्रजा पर आने वाले अनिष्ट की आशंका को टालने के लिए किया जाता था। यह यज्ञ इसलिए किया जा रहा है, क्योंकि भूमि के प्रश्न पर खूनी क्रांति दस्तक दे रही है।

भूदान के लिए विनोबा का कहना था कि इसे भूस्वामी अपनी पांचवी या छठवीं संतान मानें। क्या कोई व्यक्ति अपनी पाँचवीं या छठवीं संतान को अपने उत्तराधिकार से सिर्फ इसलिए वंचित कर देगा कि हिस्सा देने से सम्पत्ति कम हो जाएगी? उन्होंने अपने को आधुनिक वामन के रूप में भी प्रस्तुत किया। विनोबा दान को कृपालु कार्य नहीं मानते, जिससे दान लेने वाले को अपमान का अनुभव हो। शंकराचार्य ने दान की व्याख्या कर्तव्य के रूप में की है। विनोबा के अनुसार..."भूमि पाने वाले किसी निष्ठावान व्यक्ति को अपमानित अनुभव नहीं करना चाहिए। वह वही वापस पा रहा है, जो औचित्य के साथ उसका था।" वेदों में दान न देकर संचय करने वाले को चोरों की श्रेणी में रखा गया और उनके लिए 'पणि' और 'वृत्र' जैसे निन्दात्मक शब्द प्रयुक्त किया है। भारत में दान के दो आधार हैं– (1) वैदिक और महाभारत की व्याख्या जिसमें दाता के पास दान के बराबर की सेवा या धन या पुण्य वापस लौटता है और (2) गीता की व्याख्या (यद्यपि वह महाभारत का भाग है)–दान निष्काम कर्म है। वापसी की इच्छा से किया गया दान निम्न नैतिक स्तर का–'राजसिक'–है। विनोबा दान की अवधारणा में दोनों व्याख्याओं को समन्वित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दान के पवित्र उद्देश्य के लिए वे सभी–यहाँ तक कि विरोधी व्याख्याओं को स्वीकार कर लेते हैं। कई बार तो वे दान को सामाजिक न्याय का पर्याय मानकर उग्र भाषा का भी प्रयोग करते हैं। वे लिखते हैं कि जीवन के लिए संचय अगर एक "अनिवार्य बुराई" है तो दान उस बुराई का प्रायश्चित है। सामान्यतः तो वे यही कहते हैं कि न तो दाता में दिखावेबाजी होनी चाहिए और न भूदान कार्यकर्ताओं को बाध्यकारी भाषा का प्रयोग करना चाहिए। लेकिन फिर वे भूस्वामियों को यह नैतिक चेतावनी देना उचित मानते हैं कि भूस्वामी भूदान को ठुकराकर हिंसक साम्यवादी क्रान्ति को ही बुला रहे हैं। उनका कहना है...."अगर यह

धमकी है, तो यह धमकी वेद ने दिया है....'निरुद्देश्य संचय करने वाला मूर्ख है।' इस प्रकार वह अपनी मृत्यु को आमंत्रित कर रहा है। दूसरों के सहभाग के बिना भोजन करने वाला वस्तुतः पाप का ही संचय कर रहा है।" विनोबा एक स्मृति के वाक्य को भी उद्धृत करते हैं...."चाहे विश्वास से या अविश्वास से, चाहे शर्म से, चाहे भय से, किसी भी कारण से दान अवश्य करना चाहिए।"

15.8 ग्रामदान, सामुदायिक विकास और पंचायती राज

ग्रामदान भूदान आंदोलन की तार्किक परिणति थी, जिसे विनोबा ने भूदान का पांचवा और अंतिम चरण तथा "भू-क्रांति" कहा था। उनके अनुसार ग्रामदान की अवधारणा प्रारम्भ से ही उनके मन में थी, लेकिन ग्रामदान की वैचारिक उग्रता के कारण उन्होंने उसे भूदान के बाद ही क्रियान्वित करने का निर्णय लिया था। जो भी हो, भूदान की तरह ग्रामदान भी नाटकीय, आकस्मिक और स्वतः स्फूर्त ही दिखता है। पहला ग्रामदान मई 1952 में हमीरपुर के मांगरोठ गांव में हुआ, लेकिन यह आंदोलन के रूप में 1955 में ही उड़ीसा के कोरापुट जनपद के केन्द्रित अभियान से ही स्पष्ट दिख सका। उस साल बाबा ने वहाँ आठ महीने पदयात्रा करके 812 गाँवों में यह प्रकल्प पूरा किया। इसके साथ ही ग्रामदान का विचार स्पष्ट हुआ। बाबा के अनुसार भूदान में कृपालुता और वैयक्तिकता थी, जबकि ग्रामदान में सहकारिता और सामूहिकता है। ग्रामदान में निजी सम्पत्ति का उन्मूलन भी था। ग्रामदान का लाभ पूरे समुदाय को मिलता। ग्रामदान का यही क्रान्तिकारी पक्ष था। मोटे तौर पर नियम यह था कि गाँव के 80% भू-स्वामी अपनी भूमि को ग्राम-सभा के नियंत्रण में दे दें, जो कि गाँव की पूरी भूमि का 50% से अधिक हो, तो उस गाँव को ग्रामदान मान लिया जाएगा। प्राप्ति, पुष्टि और निर्माण नाम से इसके तीन चरण थे। विनोबा ने कल्पना किया था कि गाँधी के जन्मशती वर्ष 1969 तक भारत के सभी गांव इस योजना में आ जाएंगे। विनोबा पूरे भारत में पदयात्रा करते रहे, लेकिन यह आंदोलन भूदान से भी पीछे रह गया। 1969 तक केवल दस हजार गाँवों को ही यह दर्जा मिल सका।

1963 से ग्रामदान की कमजोरियाँ दिखने लगीं। चीनी आक्रमण के कारण भी गतिरोध आ गया था। अंततः विनोबा ने सुलभ-ग्रामदान के विचार से ग्रामदान के मानक को ढीला कर दिया। अब भूस्वामियों को अभी भूमि का मात्र 05% ही वास्तविक रूप में ग्राम सभा को देना था। शेष भूमि पर सामुदायिक नियंत्रण की औपचारिक शर्त अवश्य थी और कुछ ऐसे ही कागजी प्राविधान भी बने रहे। विनोबा ने कहा कि उन्होंने होम्योपैथी पद्धति की तरह सुधार-प्रक्रिया को हल्का किया है ताकि वह प्रभावी हो सके। दूसरा उदाहरण उन्होंने हनुमान जी का दिया, जो सूक्ष्म रूप रखकर ही सुरसा के नथुनों से निकल पाये थे। इसके अलावा वे सुलभ ग्रामदान के द्वारा दान की व्यक्तिगत भावना को फिर से वापस लाना चाहते थे।

सर्वोदय आंदोलन हमारे सामने भू-दान और फिर ग्रामदान के रूप में आया। दोनों आंदोलनों को असफलता से बचने के लिए बीघा-कट्ठा और सुलभ ग्रामदान का रूप लेना पड़ा। इसके बाद भी वे असफलता से बच नहीं सके। इसके बावजूद हम इन आंदोलनों के औचित्य को अस्वीकार नहीं कर सकते। इन आंदोलनों ने स्वतंत्रता के आगें के दो दशकों तक गाँवों को राष्ट्रीय विमर्श का केन्द्र बनाए रखा। इन्होंने समस्या के समाधान की एक वैकल्पिक व्यवस्था प्रस्तुत की। इन कारणों से गांवों के विकास की सारी सम्भावनाएँ तलाशी गयीं और कुछ प्रगति हुयी। वास्तव में औपनिवैशिक शासन ने हमें ग्राम-विकास का कोई प्रतिमान या प्रारूप दिया ही नहीं था, इसलिए हम सर्वोदय की तरह ही प्रयोग करते हुए आगे बढ़ सकते थे। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि ग्राम विकास की सारी बड़ी योजनाएँ कहीं न कहीं सर्वोदय से प्रभावित थीं। 1957 में दक्षिण भारत के येलवल में आयोजित

सर्वदलीय सम्मेलन में भारत के राष्ट्रीय नेतृत्व ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया कि सामुदायिक विकास की योजनाएँ सर्वोदयी आदर्श पर चलने का प्रयास करें। सामुदायिक विकास का उद्घाटन 2 अक्टूबर 1952 को हुआ था और 1956 में इसके लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय बना दिया गया। विकास पर जनतांत्रिक नियंत्रण बनाने के लिए 1959 में पंचायती राज स्थापित किया गया। सर्वोदय ने इन व्यवस्थाओं से अपने को औपचारिक रूप से अलग ही रखा, लेकिन अनौपचारिक रूप से सरकार और सर्वोदय का सहकार बना रहा।

ग्राम विकास की सरकारी योजनाओं पर सर्वोदय की कुछ बड़ी आपत्तियाँ थीं। एक बड़ी आपत्ति यह थी कि सरकारी योजनाएं दिल्ली से थोपी जाती थीं, जो गाँवों की आत्म-निर्भरता को बढ़ाने की जगह घटाती थीं। योजनाएँ शुद्ध आर्थिक आधार पर बनायी गयी थीं, जबकि सर्वोदय अर्थ पर नैतिक नियंत्रण का समर्थक है। शुरुआती दशकों में योजनाओं में समाज के वंचित वर्गों के लिए विशेष व्यवस्था नहीं थी। योजनाओं में अनुत्पादक और वैभवपूर्ण कामों पर ज्यादा जोर था। सरकारी सोच के केन्द्र में जनता नहीं थी, जैसे वनों को जनता से दूर करके राजस्व का स्रोत माना गया या उर्वरक की खपत को बढ़ाने का प्रयास किया गया, जबकि बहुत जगहों पर इससे खेतों को नुकसान पहुंच रहा था। सर्वोदय पंचायती राज में दलों के प्रवेश के विरुद्ध था। सर्वोदय का विचार था कि इस वैचारिक विरोध के बाद भी जहाँ तक हो सके। इन योजनाओं में सहयोग किया जाना चाहिए।

15.9 भूदान और ग्रामदान की समीक्षा

सर्वोदयी आंदोलनों के विवरण के बाद हम संक्षेप में इनकी समीक्षा करेंगे। इनमें से कुछ आलोचनाओं का स्पष्टीकरण विनोबा जी ने दिया है। सबसे पहले हम इनकी चर्चा करेंगे। (1) भूदान-ग्रामदान ने संख्या पर जोर दिया, गुणवत्ता पर नहीं। इस पर विनोबा का कहना था कि अगर संख्या का महत्व न होता तो "नेपोलियन और वेलिंग्टन जैसे गुणी सेनापतियों को सेना की आवश्यकता क्यों पड़ती?" (2) अगर इस आंदोलन में संख्या कम रहती, तो सीमित क्षेत्र में सघन काम करके एक आदर्श प्रारूप बनाया जा सकता था। पूरे देश को इस आदर्श प्रारूप से प्रेरणा मिलती। इस पर बाबा का कहना था कि "कभी किसी आदर्श प्रारूप ने क्रांति नहीं किया है। आदर्श प्रारूप शिक्षा में उपयोगी हो सकते हैं सामाजिक पुनर्रचना में नहीं।" (3) एक आलोचना यह थी कि कार्यकर्त्ता भूदान-ग्रामदान का काम पूरा करने के बाद पुनर्रचना का काम छोड़ देते थे, क्योंकि उनकी दिलचस्पी केवल लक्ष्य पूरा करने में है। इस पर विनोबा का कहना था कि भूदान-ग्रामदान मंगनी और विवाह है, जबकि "पुनर्रचना का काम विवाह के बाद के पारिवारिक जीवन जैसा है, जिसका कोई अंत नहीं है।" (4) भूदान में प्रायः बहुत छोटी और बंजर जमीन मिलने की शिकायत थी। छोटी-छोटी खेतियों पर विनोबा का कहना था कि भारतीय किसान ऐसे खेतों के अभ्यस्त हैं और छोटे खेतों के दान से भी दान का भाव बना रहता है। बंजर जमीन पर उनका कहना था कि वे हनुमान की तरह पूरा पर्वत उठा लाए हैं। फिर ऐसे खेत भी "भारत माता के भाग हैं"। (5) यह कहा जाता था कि ये आंदोलन साम्यवादी हिंसा की प्रतिक्रिया है। विनोबा का उत्तर था...."सूरज की किरणें अंधकार की प्रतिक्रिया नहीं है। (6) विनोबा पर यह आरोप लगता था कि वे बड़ा लक्ष्य रखते थे। विनोबा का कहना था कि (क) बड़े लक्ष्य से तात्कालिकता और गम्भीरता का भाव जगता है, (ख) बीच में असफलताओं का आकलन करके सुधार और समायोजन सम्भव होता है और (ग) भारतीय मानसिकता ऐसी है कि वह बड़े लक्ष्य को देखकर ही उत्साहित होती है। (7) विनोबा को इस आलोचना का भी सामना करना पड़ा कि वे योजनाओं को बीच में ही छोड़कर अगली योजना की घोषणा कर देते थे। उन्होंने 65से अधिक आंदोलनों की घोषणा किया, जिनमें कुछ तो कागज में ही समाप्त हो गए। 1959 के अजमेर अधिवेशन में उन्होंने स्वीकार किया

कि ऐसी कई घोषणाओं को वे स्वयं भूल चुके हैं। इस पर जयप्रकाश ने उनसे अनुरोध किया कि वे आगे नयी योजनाओं की घोषणा न करें। विनोबा कहीं-न-कहीं मानते थे कि संगठन का काम भी हिंसा का भाग है, इसलिए सर्वोदय के आंदोलन असरदार तरीके से आगे नहीं बढ़ पाते थे। इन आरोपों के स्पष्टीकरण में उनका कहना था कि वे एक 'साइन पोस्ट' हैं, जो रास्ता बता सकते हैं, किसी को चलने के लिए विवश नहीं कर सकते, या एक बादल हैं, जो बारिश तो कर सकता है, लेकिन खेती का काम तो किसान को ही करना होगा। दार्शनिक अंदाज में वे कहते हैं–"मैं एक घुमक्कड़ फकीर हूँ, जो यह जानने के बाद भी इस दुनिया की सेवा कर रहा है कि यह दुनिया मिथ्या है।"

15.10 सर्वोदय के अन्य सरोकार–आचार्यकुल, खादी, शांति सेना, देवनागरी, स्त्री शक्ति, गौरक्षा

सर्व सेवा संघ के 1969 के राजगीर अधिवेशन में सर्वोदय की शिथिलता खुलकर दिखी। आंदोलन दो खेमों में बंट चुका था। 75 वर्ष के विनोबा इस बिखराव को रोक सकने में सफल नहीं रहे। वैसे तो सर्वोदय शुरू से ही आध्यात्मिक था, लेकिन इस बिखराव के बाद विनोबा-समर्थन खेमे ने विवादास्पद वैचारिक और सामाजिक मामलों से अपने को और अलग कर लिया। 1970 से विनोबा ने सूक्ष्म प्रवेश, अभिध्यान और निध्यासन जैसी आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग करना शुरू कर दिया। 1969 के अधिवेशन में ही उन्होंने कहा था..."शब्दों की शक्ति की तुलना में मस्तिष्क और हृदय की शक्ति, समाधि और शून्य होने की शक्ति बहुत अधिक है।" उनका विश्वास था कि वे अहं को शून्य करके "पूरे विश्व को प्रभावित कर सकेंगे।"..."मैं इस प्रयोग से निष्क्रियता की अवस्था को पार कर अकर्म के द्वारा कर्म का परिणाम पाना चाहता हूँ।" उन्होंने क्षेत्र-संन्यास भी ले लिया। इसके बाद भी उन्होंने मुख्यतः सामाजिक सरोकारों को ही महत्व दिया। इनकी हम संक्षिप्त चर्चा करेंगे। उन्होंने अपनी प्राथमिकताओं में आचार्यकुल, देवनागरी, खादी, ब्रह्मविद्या, स्त्री शक्ति, गौरक्षा और शांति सेना को रखा। ये सभी कार्यक्रम सर्वोदय में शुरू से ही थे, जिन पर भूदान-ग्रामदान के दौर में भी काम होता रहा था। 1970 के बाद विनोबा-समर्थक सर्वोदय ने इन्हें पूर्णकालिक रूप से अपना लिया।

आचार्यकुल की स्थापना विक्रमशिला के प्राचीन विश्वविद्यालय के पास कहलोल गाँव में मार्च 1968 में हुयी थी। 1973 और 1980 में इसके दो बड़े अधिवेशन हुए। बीच में 1976 में आचार्यों का एक अधिवेशन और हुआ, जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से भारत में लगे हुए आपात् काल से जुड़ी समस्याओं पर विचार हुआ। आचार्यकुल की अवधारणा पातंजलि के योग-सूत्र पर आधारित थी। सर्वोदय गाँधी जी की इस चिंता से सहमत था कि हमारे देश के शिक्षितों का हृदय अपेक्षाकृत अधिक "कठोर" है। इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा से संस्कार गायब हो गए हैं और वह तकनीकी कौशल तक सिमट गयी है। विनोबा के अनुसार "हमने अपनी शिक्षा में सभी सम्भव गलतियाँ की हैं, हम सभी गलत दिशाओं में गए हैं। उसका कोई आध्यात्मिक आयाम नहीं है।" विनोबा ने आचार्यकुल के मंच से इस दिशा में व्यापक विमर्श शुरू किया। बाद में आचार्य की परिधि में शिक्षकों के अतिरिक्त अन्य बौद्धिक वर्गों को भी शामिल किया गया। आचार्यकुल के सदस्य इतने अराजनैतिक थे कि वे चुनाव में मतदान भी नहीं कर सकते थे।

खादी के प्रश्न पर विचार करने के लिए पवनार आश्रम में जनवरी 1981 में एक सम्मेलन आयोजित हुआ। विनोबा ने कहा कि खादी को समग्र ग्रामोद्योग का केन्द्र बनना चाहिए। इसे सरकारी समर्थन के मोहपाश से निकलना चाहिए, क्योंकि खादी ग्रामोद्योग कमीशन के गठन के साथ ही खादी का पतन शुरु हुआ है। उन्होंने आयोग के काम को "मृत्यु के पहले का संस्कार" कहा। सर्वोदय के विचार से

अगर भोजन पहली व्यक्तिगत आवश्यकता है, तो वस्त्र पहली सामाजिक आवश्यकता है, इसलिए वस्त्र के विचार को उपेक्षित नहीं करना चाहिए। फिर खादी तो वैसे भी आत्मनिर्भर ग्रामीण गणराज्य की अवधारणा का आधार है। बाद में विनोबा ने 'लोक वस्त्र' के विचार को रखा, जिसमें बुनकरों को बिजली और पावरलूम का प्रयोग करने की छूट मिली। शर्त यह थी कि इन वस्त्रों का प्रयोग उसी गाँव में होगा। विनोबा का एक और पुराना विचार शांति सेना का था, जिसकी घोषणा उन्होंने जुलाई 1957 में कोजीकोड (केरल) में किया था। विचार यह था कि समाज को ही स्थानीय स्तर पर शांति स्थापित करना चाहिए। पुलिस और सेना शांति के नाम पर दमन ही करती है, क्योंकि न तो उनमें अहिंसक संस्कार होते हैं और न ही स्थानीय लोगों के लिए कोई लगाव होता है। शांति सेना के पुराने विचार पर एक सम्मेलन अक्टूबर 1981 में आयोजित हुआ, जिसमें 500 पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। अच्युत देशपांडे के नेतृत्व में इस शांति सेना ने बम्बई की देवनार वधशाला में दीर्घकालीन धरना दिया। परवर्ती चरण में विनोबा ने सर्वोदय को देवनागरी लिपि के काम से भी जोड़ा। विनोबा लगभग सभी भारतीय भाषाओं से परिचित थे। लगातार पदयात्राओं और प्रवास से उनका जन सम्पर्क और अधिक आत्मीय हो गया था। वे मानते थे कि सभी भारतीय भाषाओं में एक अन्तर्निहित अंतरंगता है। विनोबा के प्रयास से ही रेडियो पर संस्कृत में समाचार शुरू हुए, जिसके मूलभाव को किसी भी भारतीय भाषा का जानकार समझ सकता था। विनोबा का विचार था कि देवनागरी को सभी भारतीय भाषाओं की द्वितीय लिपि बना दिया जाए। निश्चित रूप से इससे राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती, क्योंकि देवनागरी लिपि में हर भाषा काम चलाऊ तौर पर समझ में आ सकती है। उत्तर भारतीय लोग भारत के किसी कोने में भी अपने को अजनबी नहीं पाएंगे। इसके अलावा देवनागरी लिपि विश्व की सर्वाधिक सरल और वैज्ञानिक ध्वन्यात्मक लिपि है। विनोबा का कहना था कि उन्हें सारी भारतीय भाषाओं को सीखने में उतना समय नहीं लगा, जितना अकेले अंग्रेजी सीखने में लगा। यह देश का दुर्भाग्य है कि उसने उस रोमन लिपि को महत्व दिया, जिसकी अवैज्ञानिकता से परेशान होकर जार्ज बर्नाड शॉ ने अपनी वसीयत में सम्पत्ति का बड़ा भाग रोमन लिपि के सुधार के लिए छोड़ा था। विनोबा ने फरवरी 1974 में पवनार में एक सम्मेलन आयोजित करके देवनागरी लिपि परिषद का गठन किया। इस परिषद ने देवनागरी के लिए काफी काम किया है।

वर्ष 1976 से विनोबा ने गौरक्षा के मामले को गम्भीरता से उठाना शुरू किया। गौसेवा सर्वोदय का पुराना प्रकल्प था। गोसेवा संघ उन चार संगठनों में एक था, जिनके विलय से 1949 में सर्वसेवा की स्थापना हुई थी। खिलाफत आंदोलन के औचित्य पर गाँधी जी ने सिर्फ यही कहा था कि इससे हिंदू गौरक्षा कर सकेंगे। इस तरह 1976 में सर्वोदय ने गौसेवा के बिखरे तारों को जोड़ कर एक आंदोलन खड़ा करने का प्रयास किया। इस मामले पर विनोबा ने गाँधी से आगे जाकर गौहत्या रोकने के लिए संविधान संशोधन का समर्थन किया और आमरण अनशन के अंतिम अस्त्र का प्रयोग भी किया। वस्तुतः केवल इसी मांग पर उन्होंने आपातकाल में सरकार से टकराव मोल लिया। इसी प्रश्न पर उनकी पत्रिका 'मैत्री' की प्रतियां जब्त की गयीं। गोवंश रक्षा का औचित्य यह है कि वह हमारी सांस्कृतिक थाती है, संविधान का एक नीति निर्देशक सिद्धांत है और जैविक खेती का केंद्र है। सतीश दासगुप्ता ने 1945 में 'काउ इन इंडिया' में वैज्ञानिक विधि से सिद्ध किया था कि बैल ट्रैक्टर से अधिक उपयोगी है। गोवंश का पूरा शरीर ही ग्रामीण जीवन को धार्मिक सांस्कृतिक और आर्थिक शक्ति देता है। सर्वोदय के इस आंदोलन से पूरे देश में गम्भीर बहस चली। विनोबा इस मामले में केवल नागालैंड को छूट देने के लिए तैयार थे, जबकि वास्तव में इसमें सबसे बड़ी बाधा केरल और पश्चिम बंगाल से जा रही थी। दो वर्ष के प्रयास के बाद भी इन दो प्रदेशों को गौरक्षा के लिए राजी नहीं किया जा सका। अंततः विनोबा ने अप्रैल 1979 को आमरण अनशन आरम्भ किया, जिसे पाँच

दिन बाद मोरारजी देसाई के आश्वासन पर उन्होंने तोड़ दिया। इसी के बाद जनता पार्टी की सरकार गिर गयी, जिससे संविधान संशोधन का आश्वासन अधूरा रह गया।

अब हम सर्वोदय की यात्रा के अंतिम पड़ाव के तौर पर स्त्री-शक्ति की चर्चा करेंगे। विनोबा ने 1967 में अपने विचार के विस्तार के लिए चार महिलाओं को 1967 में इंदौर से 12 वर्ष की पदयात्रा पर भेजा था। उनके पवनार आश्रम में 1973 और 1974 में स्त्री शक्ति के दो सम्मेलन आयोजित हुए। फिर 1979 में पवनार में ही विश्व महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें पश्चिम के महिला मुक्ति आंदोलन का एक नैतिक विकल्प प्रस्तुत किया गया। हम इसकी संक्षिप्त समीक्षा करेंगे। सर्वोदय का विचार है कि स्त्री के तत्व यानी प्रकृति को हिंदू संस्कृति में सृष्टि और रचना का प्रतीक माना गया है। लोक परम्परा में भी मातृ शक्ति को सभी प्राकृतिक प्रकोपों का रक्षक माना गया है। विनोबा के अनुसार हमारी स्मृतियों ने हमारी संस्कृति पर पुरुष प्रधान मूल्य थोप दिए। स्त्री की हीनता लैंगिक नहीं, सांस्कृतिक और पारम्परिक है। इस तरह यह हमारे सामाजिक मूल्यों पर निर्भर है कि हम स्त्री को पुरुष के समान भूमिकाएँ देते हैं या नहीं। सर्वोदय का मानना है कि यौन सम्बन्ध उसी सीमा तक आवश्यक और वांछनीय है, जिस सीमा तक वह प्रजनन के प्रयोजन से प्रेरित है। इसी अर्थ में हमारी परम्परा में ज्येष्ठ पुत्र को ही धर्मज और शेष को कामज माना गया है। सर्वोदय ने स्त्री पुरुष के अलैंगिक "सहजीवन" का विचार दिया, जिसे कई सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं ने जीवन में भी उतारा। ब्रह्मचर्य को जनसंख्या-नियंत्रण के नैतिक उपाय के तौर पर भी प्रस्तुत किया गया। विनोबा का कहना था कि पृथ्वी पर जनसंख्या का नहीं, बल्कि पाप का भार है। ब्रह्मचर्य इस "पाप" को समाप्त करता है। विनोबा के अनुसार हमको शाकाहारी भोजन करना चाहिए, क्योंकि इसमें पृथ्वी की कम ऊर्जा का उपयोग होता है और इससे सात्विक संस्कार आते हैं। इसके अतिरिक्त भूखे पेट नहीं रहना चाहिए, क्योंकि फिर मानव मन भूख से उत्पन्न कष्ट के निवारण के लिए यौन क्रिया करना चाहता है। विनोबा इस मामले में कुछ ऐसी बातें कहते हैं, जिनका वैज्ञानिक आधार अस्पष्ट है। उन्होंने महिलाओं को ब्रह्मचारी बनकर समाज सुधार के काम में लगने को कहा। उन्होंने जैन और कैथोलिक भिक्षुणियों का उदाहरण दिया। इन उदाहरणों से यह तो स्पष्ट है कि महिलाएँ धार्मिक तंत्र में सक्रिय रही हैं, लेकिन शुद्ध सामाजिक सरोकारों के लिए पूर्णकालिक और भ्रमणशील महिलाओं का प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता। सर्वोदय का यह तर्क भी विवादास्पद है कि यौन सम्बन्ध कम करने से जनसंख्या नियंत्रण होगा। यौन सम्बन्धों को केवल प्रजनन तक सीमित कर देना भी उचित प्रतीत नहीं होता। अगर सर्वोदय इस प्रतिबंध को अपने कार्यकर्त्ताओं तक सीमित कर देता तो इसे अवश्य व्यवहारिक और वांछनीय माना जा सकता था।

15.11 सारांश

स्वतंत्र भारत के इतिहास में सर्वोदय का अपना अलग स्थान बना रहेगा। अगर केवल भौतिक लक्ष्य की दृष्टि से देखें तो इसका कोई भी आंदोलन अंशतः भी सकल नहीं हो सका। दो दशकों बाद सर्वोदय में बिखराव भी दिखने लगा। दलहीनता का पक्षधर सर्वोदय स्वयं राजनैतिक दलों के दलदल में फँस कर टूट गया। इसके बाद भी सर्वोदय की उपलब्धियाँ कम नहीं हैं। उसने स्वतंत्र भारत में गाँधीवाद को प्रासंगिक बनाया। सर्वोदय ने स्वैच्छिक संगठनों के विचार और व्यवहार का एक प्रतिमान बनाया। यहाँ तक कि बाद के सामाजिक प्रश्नों जैसे पर्यावरण, अनौपचारिक शिक्षा, भ्रूण-हत्या आदि पर भी सर्वोदय का काम प्रशंसनीय है। मारिस जोन्स के शब्दों में सर्वोदय ने भारतीय राजनीति का "तीसरा मुहावरा" बनाया, जिसे उन्होंने "साधुई राजनीति" का नाम दिया। उनके अनुसार भारतीय परम्परा में उच्च नैतिक आदर्शों का एक अलग स्थान है, जो राजनैतिक व्यवहार की व्याख्या नहीं

करता बल्कि उसकी समीक्षा करता है और बहुत अच्छे काम की सराहना करने में भी एक सीमा का पालन करता है। सर्वोदय को हम केवल सर्वोदय के मानदंड से असफल मान सकते हैं, सामान्य राजनैतिक मानदंड से तो सर्वोदय की समीक्षा का प्रयास करना भी अनुचित होगा।

15.12 उपयोगी पुस्तकें

1. विनोबा भावे–स्वराज शास्त्र : प्रिंसिपल्स ऑफ नान-वायलेंट पोलिटिकल आर्डर (बी कुमारप्पा द्वारा अनुवादित), पद्मा प्रकाशन, बम्बई
2. विनोबा भावे–थर्ड पावर (स्पीकेस और आचारलू द्वारा अनुवादित), सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी
3. विनोबा भावे–भूदान मिशन : लैंड गिफ्ट मिशन, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद

15.13 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सर्वोदय की आधारभूत अवधारणाओं पर प्रकाश डालिए।
2. सर्वोदय के अनुसार विकेंद्रीकरण, दल निरपेक्षता, सर्वसहमति और अ-प्रत्यक्ष चुनाव के माध्यम से राजनीति को किस प्रकार लोकनीति में बदला जा सकता है?
3. ग्रामीण गणराज्य की सर्वोदयी कल्पना का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. भूदान और ग्रामदान आंदोलनों के सभी चरणों का विवरण दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. साम्यवाद, समाजवाद और (सर्वोदयी) साम्ययोग के बीच समानता और असमानता के बिंदुओं की व्याख्या कीजिए।
2. जनांदोलन के प्रश्न पर सर्वोदय में हुयी टूट का विवरण दीजिए।
3. 'सर्वोदय स्वराज्य से रामराज्य की यात्रा है।'' स्पष्ट कीजिए।
4. सर्वोदय ने स्वतंत्र भारत में किस प्रकार गाँधीवाद की पुनर्व्याख्या किया?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भूदान का जन्म अप्रैल 1951 में

   (क) अहमदाबाद के साबरमती आश्रम में हुआ

   (ख) विनोबा के परमधाम (पवनार) आश्रम में हुआ

   (ग) नलगोंडा के पोचमपल्ली गांव में हुआ

   (घ) वर्धा के सेवाग्राम में हुआ

2. 1957 के येलवल के सर्वदलीय सम्मेलन में निश्चित हुआ कि

   (क) ग्रामदान सामुदायिक विकास का आधार होगा

(ख) पंचायती राज में सभी दल भाग नहीं लेंगे

(ग) पंचायती राज में सभी दल भाग लेंगे

(घ) ग्रामदान को जिला दान और फिर प्रदेश दान तक पहुँचाया जाए

3. पंचायती राज सामुदायिक विकास के

(क) पहले आया

(ख) बाद में आया

(ग) साथ आया

(घ) दोनों के प्रारम्भ की कोई विधि नहीं है

4. सर्वोदय के अनुसार स्त्री की हीनता

(क) लैंगिक नहीं, सांस्कृतिक और पारम्परिक है।

(ख) लैंगिक और सांस्कृतिक-पारम्परिक है।

(ग) लैंगिकता, संस्कृति और परम्परा से परे है।

(घ) मूलतः राजनैतिक है

15.14 प्रश्नोत्तर

1. (ग)
2. (क)
3. (ख)
4. (क)

इकाई–16 : जवाहर लाल नेहरू

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 जीवन वृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

16.3 राष्ट्रवाद और उसका व्यापक परिप्रेक्ष्य

16.4 नेहरू और गांधी : सहमति और असहमति के बिंदु

16.5 नेहरू और जनतांत्रिक समाजवाद

16.6 मार्क्सवाद का विश्लेषण

16.7 जनतंत्र के प्रति निष्ठा

16.8 धर्म, धर्म-निरपेक्षता और साम्प्रदायिकता

16.9 सारांश

16.10 उपयोगी पुस्तकें

16.11 सम्बन्धित प्रश्न

16.12 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

आधुनिक भारत के निर्माण में जवाहर लाल नेहरू की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वतंत्रता की पूर्व संध्या से अपनी मृत्यु तक लगभग 17 वर्ष वे देश के प्रधानमंत्री रहे। इस अध्याय के अध्ययन से आप जान सकेंगे कि–

- स्वतंत्र भारत के प्रारम्भिक वर्षों का वैचारिक परिदृश्य कैसा था?
- समाजवाद, धर्म-निरपेक्षता और गुट-निरपेक्षता जैसे प्रभावी वैश्विक विचार किस प्रकार आधुनिक भारतीय अस्मिता के आधारभूत अंग बने, और
- उपरोक्त प्रभावी विचार आज कितने प्रासंगिक हैं।

16.1 प्रस्तावना

जवाहर लाल नेहरू स्वतंत्रता-संघर्ष और स्वतंत्र भारत दोनों के बीच सबसे सशक्त कड़ी हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रारम्भिक वर्षों में ही महात्मा गांधी और सरदार पटेल नहीं रहे। इस प्रकार स्वतंत्रता-आंदोलन के उच्च आदर्शों को स्वतंत्र भारत में क्रियान्वित करने की चुनौती उनके सामने थी। कांग्रेस अब 'मूवमेंट' की नहीं, 'गवर्नमेंट' की पार्टी थी। ध्यान देने वाली बात है कि लगभग तीस-चालिस अफ्रो-एशियाई देशों की यही स्थिति थी। इनमें भारत अपवाद ही रहा, जहाँ राजनैतिक स्थायित्व और जनतंत्र

बना रहा। स्वयं कांग्रेस के कई नेता वयस्क मताधिकार से भयभीत थे। ये आशंकाएं असत्य सिद्ध हुयीं। स्वतंत्र भारत में स्थिरता, समरसता, शांति और जनतांत्रिक व्यवस्था बनी रही। इस गौवरपूर्ण उपलब्धि का बड़ा श्रेय नेहरू को मिलना ही चाहिये।

स्वतंत्र भारत में नेहरू जीवनं-पर्यन्त शीर्ष नेता रहे। तत्कालीन कांग्रेस उनकी मृत्यु के दो दशक बाद तक दिल्ली से पंचायतों तक सत्तारूढ़ रही। इसके बाद भी इतने लम्बे दौर में जनतांत्रिक मर्यादाओं का पालन किया गया। नेहरू के नेतृत्व में स्थापित व्यवस्था में विरोधियों, अल्पसंख्यकों, उपेक्षित वर्गों और और क्षेत्रों की सहभागिता सुनिश्चित हुयी। राजनैतिक व्यवस्था में इन वर्गों की सहभागिता तो थी ही, नेहरू ने कई बार तो इनको कांग्रेस में ही समायोजित करने का प्रयास किया। डा0 लोहिया तो इसी बात पर क्षुब्ध थे कि प्रचण्ड बहुमत के बाद भी नेहरू विरोधी समाजवादियों को कांग्रेस में लाना चाहते हैं। इसके बाद भी जो कांग्रेस के भीतर नहीं आना चाहते थे, वैसे जान स्थाई, डॉ0 अम्बेडकर और श्यामा प्रसाद मुखर्जी को उन्होंने लगभग मान-मनुहार करके अपने मंत्रिमंडल में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इतनी उदार व्यवस्था तो पश्चिम के विकसित जनतंत्रों में भी नहीं दिखती। भिन्नता में एकता एक भारतीय प्रवृत्ति है और नेहरू ने इसे तत्कालीन कांग्रेस का नीति-निर्देशक नियम बना दिया। सन् 1947 के पहले 'आंदोलन' वाली कांग्रेस का यही चरित्र था। सत्ता के सम्मोहन के बाद भी नेहरू ने 'शासन' वाली कांग्रेस का यही स्वरूप बनाये रखा।

16.2 जीवन वृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

जवाहर लाल नेहरू की वैभवपूर्ण पारिवारिक पृष्ठभूमि आज भी भारतवासियों के बीच किम्वदन्तियों की तरह चर्चित होती है। वैभव का स्तर यह था कि मोतीलाल जी ने अपने एकमात्र पुत्र कि शिक्षा के लिए ब्रिटिश और आयरिश शिक्षकों को पूर्णकालिक रूप से रखा था। इनमें से एक आयरिश फर्डिनांड टी0 ब्रुक्स थे, जिनके थियोसोफिस्ट विचारों ने जवाहर लाल के बाल मन को प्रभावित किया। वैसे स्वयं एनी बीसेंट के ज़वाहरलाल को इस सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। इस तरह जवाहर लाल को भारतीय धार्मिक परम्परा का पहला ज्ञान भी विदेशी माध्यम से ही हुआ। कुल मिलाकर उनका बचपन एडवर्डियन ब्रिटिश माहौल में ही बीता। 12 वर्ष तक उन्हें विद्यालय नहीं भेजा गया और उसके बाद उनको स्थानीय बच्चों से घुलने-मिलने का थोड़ा समय मिला ही था कि उन्हें इंग्लैंड के हैरो स्कूल भेज दिया गया।

ध्यान देने की बात है कि स्वयं मोतीलाल जी पाश्चात्य सभ्यता में ढले थे। वे धार्मिक मामलों में संशयवादी थे। सहज रूप से जवाहर लाल पर इन सबका गहरा प्रभाव पड़ा।

पिता का आग्रह कुछ अधिक इसलिये भी था, क्योंकि जवाहरलाल एकलौते बेटे थे और विजयलक्ष्मी उनसे ग्यारह साल छोटी थीं। हैरो के बाद वे कैम्ब्रिज के ट्रिनिट्री कालेज में स्नातक डिग्री के लिये गये वहाँ उन्होंने विज्ञान के विषयों का अध्ययन किया। वैसे उस समय भी उनकी दिलचस्पी सामाजिक विषयों में थी। वे प्रख्यात अर्थशास्त्री जे0 एस0 कीन्स और विचारक बर्टेण्ड रसेल के व्याख्यानों को विशेष रूप से सुनते थे। अंत में उन्होंने इनर टेम्पिल से बैरिस्टरी की डिग्री प्राप्त किया। इंग्लैण्ड में सात वर्ष बिताकर वे 1912 में भारत आये। मोतीलाल जी ने उन्हें अपने साथ-रखकर वकालत में लगाने की कोशिश किया, लेकिन उसमें जवाहरलाल जी का मन नहीं लगा।

इंग्लैंड में बिताये गये तरुणाई के दिनों में जवाहर लाल ने ऐसी कोई विशेष सामाजिक सक्रियता नहीं दिखाई थी, जिससे उनके भावी जीवन का अनुमान लग सकता। वे उस समय के ब्रिटेन की प्रभावी विचारधारा–फेबियन समाजवाद से प्रभावित अवश्य थे। यह विचारधारा मध्यमार्गी समाजवाद को मानती

थी, जिसको लाने के लिए मिथकीय चरित्र–फेबियस कंकेटर वाले धीरज की आवश्यकता थी। वहाँ वेब्स दम्पति इस विचारधारा को बढ़ा रहे थे। यह विचारधारा युवाओं में विशेष रूप से लोकप्रिय थी और युवा जवाहरलाल भी शुरूआती दौर में एक सामान्य युवक की तरह ही इससे प्रभावित दिखते थे। शुरू में मोतीलाल जी भी यह समझ नहीं पाये कि जवाहरलाल वकालत का व्यवस्थित और वैभवपूर्ण जीवन छोड़कर सार्वजनिक गतिविधियों में इतना अधिक सक्रिय हो जायेंगे। यह भी नहीं लगता था कि यह युवा जल्दी ही भारत जैसे विशाल देश में समाजवाद का प्रखरतम प्रतिपादक बन जायेगा।

जवाहरलाल का सार्वजनिक जीवन इलाहाबाद से शुरू हुआ। 1916 में लखनऊ अधिवेशन के दौरान गांधी से मुलाकात के साथ उनकी सक्रियता को स्पष्ट दिशा भी मिल गयी। स्वाभाविक रूप से उनकी सक्रियता का पहला प्रदर्शन रौलट एक्ट के विरुद्ध होता, लेकिन गांधी जी ने उन्हें पड़ोस के प्रतापगढ़ के किसानों के पास काम करने के लिए भेज दिया। नेहरू को ग्रामीण भारत का प्रामाणिक ज्ञान पहली बार वहीं हुआ। 1921 में नेहरू असहयोग आंदोलन में जेल गये। 1923 में वे नाभा रियासत की सिख जनता के आंदोलन में शामिल हुये। 1926 में वे यूरोप गये। वहाँ वे ब्रुसेल्स के साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन में शामिल हुये उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा भी किया। समाजवाद से तो वे अच्छी तरह परिचित थे, लेकिन मार्क्सवाद का गम्भीर अध्ययन उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा के बाद ही किया।

नेहरू उस समय तक युवा कांग्रेसियों के प्रमुख नेता बन चुके थे। यह वर्ग उस समय समाजवाद और पूर्ण स्वतंत्रता के समर्थन में सक्रिय था, जबकि दल का वरिष्ठ नेतृत्व प्रायः औपनिवैशिक स्वराज्य (डामिनियन स्टेटस) से संतुष्ट दिखता था। कांग्रेस की जनतांत्रिक परम्परा इतनी प्रबल थी कि बीच-बीच में वरिष्ठ नेतृत्व नेहरू और सुभाष के हाथों पार्टी की कमान सौंप देता था। पहली बार नेहरू इस क्रम में 1929 में और फिर दूसरे चक्र में 1936 और 1937 में कांग्रेस के सभापति बने। नेहरू 1946 में भी पार्टी के अध्यक्ष (या सभापति) बने। उस समय अध्यक्ष बनने का अर्थ यह था कि स्वतंत्र भारत के शासन की बागडोर पार्टी उनके हाथों ही सौंपेगी। इस प्रकार नेहरू स्वतंत्रता आंदोलन में वैसे तो चार बार दल के प्रमुख बने, लेकिन उनके पहले कार्यकाल का प्रारम्भ बहुत एतिहासिक रहा। 31 दिसम्बर 1929 को लाहौर के राबी नदी के तट पर पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित हुआ।

1934 में नेहरू ने कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन में संविधान सभा गठित करने का प्रस्ताव रखा। इसका आशय यह था कि भारत की स्वाधीनता और भावी भारत की वैधानिक व्यवस्था में जनता की सीधी सहभागिता होगी। 1937 के प्रांतीय चुनावों में नेहरू ने संसदीय चुनावी राजनीति का नेतृत्व किया। इन चुनावों में छह प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी। नेहरू का यह अनुभव अधूरा ही रहा, क्योंकि थोड़े समय बाद फिर से आंदोलन का अगला चरण शुरू हुआ। वे 1940 के व्यक्तिगत सत्याग्रह में शामिल हुये। अंतिम बड़ा आंदोलन 1942 में हुआ, जिसके प्रारम्भ में ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। वे तीन वर्ष अहमदनगर जेल में रहे। राजनीति का यह अजीब सा रोमांच है कि नेहरू को एकमुश्त तीन वर्षों तक जेल में रखने वाले ब्रिटिश शासकों ने एक वर्ष बाद उन्हें अंतरिम शासन का प्रमुख बनने का न्यौता दिया। जैसा कि सर्वविदित है, उसके बाद वे 27 मई 1964 तक अर्थात् जीवन पर्यंत उसी पद पर रहे। किसी की जनतांत्रिक व्यवस्था में यह अतिजीविता आश्चर्यजनक है।

नेहरू की आत्मकथा 1936 में प्रकाशित हुयी। बौद्धिक पुस्तकों में 'विश्व इतिहास की फलक' (1934) और 'भारत की खोज' (1947) का अधिक महत्त्व है। जैसा कि शीर्षकों से ही स्पष्ट है, इन पुस्तकों में क्रमशः विश्व और भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन है। दोनों पुस्तको पर मार्क्सवाद के एतिहासिक भौतिकवादी उपागम का प्रभाव अधिक है। इस कारण उन्हें इतिहास में एक व्यवस्था

अवश्य मिली, जिससे हमको भी विकास के सूत्र समझने में सुविधा हुयी। स्पष्टतः ये सूत्र आर्थिक हैं और काफी सीमा तक यान्त्रिक तथा नियतिवादी हैं। यह भी एक विडम्बना है कि आधुनिक भारत के सर्वोच्च नेता को भारत की 'खोज' करना पड़ा।

16.3 राष्ट्रवाद और उसका व्यापक परिप्रेक्ष्य

जवाहरलाल नेहरू ने अपने प्रखर व्यक्तित्व से स्वतंत्रता आन्दोलन को सबल बनाया था। कांग्रेस के वरिष्ठ नेता 'पूर्ण स्वराज' के स्थान पर औपनिवेशिक स्वशासन की मांग को अधिक व्यवहारिक मानते थे। इसी मनोवृत्ति के कारण हसरत मोहानी 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस में असफल रहे और फिर 1924 में भी गांधी जी के विरोध के कारण फिर पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव असफल रहा। अंततः 1927 में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में नेहरू को पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित करवाने में सफलता मिली। नेहरू को मालूम था कि वरिष्ठ कांग्रेसी अभी भी कांग्रेस को उस सीमा तक जाने से रोकेंगे। यह माँग इसी कारण से कांग्रेस के संविधान में सम्मिलित नहीं की गयी। कांग्रेस को पूर्ण स्वराज की माँग की ओर सक्रिय करने के लिये उन्होंने दबाव-समूह जैसे दो संगठन बनाये। नेहरू अंततः 1929 में सफल हुये, जब लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने उनकी अध्यक्षता में पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव हार्दिक रूप से स्वीकर कर लिया।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वतंत्रता-आंदोलन में नेहरू ने प्रखर राष्ट्रवादी वर्ग का नेतृत्व किया था। यह उग्रता उनके उदारवादी व्यक्तित्व के प्रतिकूल दिखती है। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है– ''निजी रूप से मेरी मानसिकता पर इंग्लैंड का इतना अधिक प्रभाव रहा है कि मैं उसे बाहरी नहीं मान सकता। मैं चाहे जितना भी प्रयास क्यों न करूँ, मैं उन मनोभावों और मानदंडों से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, जो मैं इंग्लैंड के स्कूलों और कालेजों में हासिल किया था और जिनके सहारे मैं अन्य देशों तथा सामान्यतः पूरे जीवन को जाँचता-परखता हूँ''।

ऊपरी तौर पर यह आश्चर्यजनक लग सकता है कि अंग्रेजी और अंग्रेजियत से प्रभावित पारिवारिक पृष्ठभूमि और प्रारम्भिक संस्कारों के बावजूद नेहरू भारतीय राष्ट्रवाद को आत्मसात कर सके। इसका एक कारण तो यह था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के नस्लवादी और शोषक चरित्र से परिचित हो चुके थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण का विश्लेषण किया, जो बहुत कुछ दादा भाई नौरोजी के 'ड्रेन' सिद्धान्त और मार्क्सवादियों की व्याख्या के निकट है। नेहरू अपने विश्लेषण में आर्थिक राष्ट्रवाद के प्रखर प्रवक्ता प्रतीत होते हैं। उन्होंने आँकड़ों के माध्यम से सिद्ध किया है कि ब्रिटिश शासन ने भारत के कुटीर और मझोले उद्योगों को नष्ट करके औद्योगीकरण की सम्भावनाओं को समाप्त कर दिया और इस तरह बेरोजगार हुये बहुत बड़े वर्ग को अनुत्पादक खेती की ओर ढकेल दिया। ब्रिटिश साम्राज्य ने यह कार्य योजनाबद्ध ढंग से किया, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश उद्योगों को सस्ते कच्चे माल की आपूर्ति और उत्पादों की बिक्री के लिए बंधुआ औपनिवैशिक बाजार सुनिश्चि करवाना था।

नेहरू की दृष्टि में ब्रिटिश शोषण भारतीय राष्ट्रवाद का नकारात्मक आधार था। राष्ट्रवाद इस नकारात्मकता से आगे बढ़कर एक आत्मीय अवधारणा और मार्मिक मनोभाव भी है। यह सच है कि उन्होंने राष्ट्रवाद की तिलक, बंकिम और अरविंद वाली धार्मिक-सांस्कृतिक व्याख्या को नहीं अपनाया, जिसमें राष्ट्र ''ईश्वर प्रदत्त धर्म'' का स्थान पा जाता है। नेहरू का राष्ट्रवाद नौरोजी-फिरोजशाह मेहता द्वारा समर्थित आर्थिक-लौकिक रंग लिये हैं। इसके बावजूद नेहरू का राष्ट्रवाद वैसा रूखा भी नहीं है। वे संस्कृति को धार्मिक श्रेणी न मानकर ''एक राष्ट्रीय श्रेणी'' मानते हैं। इस तरह वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

को स्वीकार करते हैं। राष्ट्रवाद मूलतः एक मनोभाव है, इसलिये "जब कभी संकट आया है, उसके साथ ही राष्ट्रवादी भावना का उत्थान हुआ है और लोगों ने अपनी परम्पराओं से शक्ति और सान्त्वना पाने का प्रयास किया"। उनके अनुसार, "राष्ट्रवाद मूलतः अतीत की उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों की सामूहिक स्मृति है"। नेहरू राष्ट्रवाद की भावनात्मक अपील को अनदेखा नहीं करते लेकिन इस भावना के उग्र, आक्रामक और अमर्यादित हो जाने के खतरे से भी अपरिचित नहीं है। इसलिये वे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को स्वीकार करके सीमित भी करते हैं, जिस प्रयास में वे रवीन्द्रनाथ टैगोर और बहुत कुछ गांधी जी तथा डा0 राधाकृष्णन के समीप आ जाते हैं। उन्होंने कुछ ऐसा प्रयास भी किया कि प्राचीन भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों-प्रतीकों के तौर पर बौद्ध परम्परा को अधिक महत्त्व दिया जाए।

नेहरू ने राष्ट्रवाद को अत्यंत व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा है। वे राष्ट्रवाद को एक ओर अंतर्राष्ट्रीयतावाद और साम्राज्यवाद-विरोध से तथा दूसरी ओर समाजवाद तथा जनतंत्र से जोड़ देते हैं। वे लिखते हैं– "राष्ट्रवादी आंदोलन को दृढ़तापूर्वक पूंजीवाद-विरोधी, सामंत-वाद-विरोधी, बोर्जुआ-विरोधी......और निश्चिततः साम्राज्यवाद-विरोधी होना होगा"। एक स्थान पर वे लिखते हैं–"अब देशभक्ति अपने आप में पर्याप्त नहीं है; हम उससे कुछ उच्चतर, बृहत्तर और महत्तर भावना चाहते हैं।" एक अन्य स्थान पर इनका विचार है–"शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति और अन्य सभी मामलों में मुझे सबसे ज्यादा अरुचि उस संकीर्ण राष्ट्रवादी नजरिये से है, जो हमको बताती है कि हम मनीषा के शिखर पर पहुँच चुके हैं और अब हमें कुछ भी सीखने की आवश्यकता नहीं है।"। राष्ट्रवाद को समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद जैसे विचारों से जोड़ने की प्रवृत्ति कई बार नेहरू में इतनी प्रबल दिखती है, जैसे उनके लिये राष्ट्रवाद का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं हो। कई बार अपने राष्ट्रवादी विचारों में वे अत्यंत संकोची दिखते हैं। इसका एक कारण यह अवश्य था कि उस युग में राष्ट्रवाद पूरे औपनिवेशिक विश्व में साम्राज्यवाद-विरोधी भावना और समाजवाद के साथ जुड़ा था। ये तीनों विचार एक साथ जुड़कर काफी सशक्त हो गये थे। फिर नेहरू अपने अध्ययन के कारण वैसे भी वैश्विक मामलों के अच्छे जानकार थे। वे समझ गये थे कि राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद-विरोध, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और समाजवाद से जुड़कर अधिक औचित्यपूर्ण, आकर्षक और आत्मीय बन सकेगा।

राष्ट्रवाद को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की क्षमता नेहरू में अधिक थी। उन्होंने 1927 की मद्रास कांग्रेस में ब्रिटिश शासन द्वारा चीन में भारतीय सेना के प्रयोग की निंदा का प्रस्ताव पारित किया। इस तरह इस मोर्चे पर नेहरू काफी पहले से सक्रिय थे, लेकिन फरवरी 1927 में ब्रुसेल्स के साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन से वे और अधिक सक्रिय हो गये। वे उस सम्मेलन के मानद अध्यक्षों में से एक थे। उस सम्मेलन में उन्होंने परतंत्र देशों की त्रासदी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रस्तुत हुए देखा। साम्राज्यवाद के चरित्र की लेनिनवादी व्याख्या को उन्होंने स्वीकार कर लिया था, जिसके अनुसार साम्राज्यवाद "पूंजीवाद का चरण" है। वित्तीय एकाधिकारवादी पूंजीवाद अपने मुनाफे की खोज में उपनिवेश ढूँढ़ता है। लूट की यह होड़ अंततः स्वयं उन्हीं देशों के बीच युद्ध को जन्म देती है, जो विश्व युद्ध का रूप ले लेती है।

भारत ने स्वतंत्र होने के बाद नेहरू के नेतृत्व में तमाम परतंत्र अफ्रो-एशियाई देशों को नैतिक ही नहीं भौतिक, आर्थिक और राजनयिक समर्थन भी दिया। नेहरू ने विदेश मंत्रालय अपने पास रखा था, इसलिये वे इस पवित्र भारतीय संकल्प को असरदार तरीके से लागू कर सके। विदेश-नीति में गुट-निरपेक्षता और पंचशील को उन्होंने केन्द्र में रखा। नेहरू अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की अहमियत को बुहत पहले समझ चुके थे। उन्होंने बहुत पहले कहा था–"विश्व का अन्तर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है, उत्पादन

अर्न्तराष्ट्रीय है, बाजार अर्न्तराष्ट्रीय है, परिवहन अर्न्तराष्ट्रीय है।

कोई राष्ट्र वास्तव में स्वतंत्र नहीं है, सभी परस्पर निर्भर हैं''।

वैश्विकीकरण को समझने में नेहरू अपने समय से काफी आगे थे। इस समझदारी के कारण ही उन्होंने एक सक्रिय विदेश नीति का निर्माण किया। गुट निरपेक्षता के सहारे उन्होंने शीतयुद्ध में फँसी द्वि-ध्रुवीय वैश्विक व्यवस्था के सामने एक विकल्प प्रस्तुत किया। इस दायरे में एक प्रकार से पूरी तीसरी दुनिया आ गयी। अगर हम मान लें कि उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा था, तो भी गुट-निरपेक्षता का औचित्य बना रहा, क्योंकि शास्त्रीय साम्राज्यवाद के स्थान पर नवसाम्राज्यवाद तो आ ही गया था। भारत के लिये गुट-निरपेक्षता ऐतिहासिक तौर पर भी उचित थी, क्योंकि यह नीति भारत की शांतिवादी परम्परा के अनुकूल थी। गुटनिरपेक्षता के ये आदर्शवादी औचित्य तो थे ही, साथ यह नीति भारत के हितों के अनुकूल भी थी। इस नीति के कारण गुट-निरपेक्ष देश दोनों गुटों से सौदेबाजी कर सकते थे। ऐसे कई उदाहरण सामने आये भी, जब इन देशों ने अपने लाभ के लिये अमेरिका-रूस की प्रतिद्वन्द्विता का उपयोग किया। गुट निरपेक्षता में कुछ समस्याएं भी थीं। नेहरू ने कई बार पश्चिमी दुनिया के सामने गुट-निरपेक्षता के औचित्य में अतिरेकी आदर्शवादी तर्कों का प्रयोग किया। पश्चिमी देश इस आदर्शवाद को स्वीकार नहीं कर पाते थे। गुट-निरपेक्ष देश अक्सर ही पश्चिमी देशों से आर्थिक सहायता लेते थे। कहा तो जाता था, लेकिन यह मानना मुश्किल होगा कि आर्थिक सहायता देने वाले देश कोई 'शर्त' नहीं रखते थे। गुट निरपेक्ष देशों को कई बार इन आर्थिक दबावों के चलते अपनी नीति में नीटकीय बदलाव करना पड़ा। भारत के साथ एक समस्या और हुयी जब भारत ने गुट-निरपेक्षता और साम्राज्यवाद-विरोध की नीति के नाते अपने को तीसरी दुनिया में शामिल रखा। भारत में जनतांत्रिक व्यवस्था, राजनैतिक स्थिरता, सामाजिक समरसता और औद्योगिक ढाँचा मौजूद था। अगर भारत तीसरी दुनिया की विचारधारा से न जुड़ता तो शायद वह अब तक विकासशील न रहकर विकसित देश बन चुका होता।

16.4 नेहरू और गांधी : सहमति और असहमति के बिंदु

नेहरू के व्यक्तित्व पर महात्मा गांधी की अमिट छाप थी। स्वतंत्रता-आंदोलन के दौरान ही स्पष्ट हो गया था कि स्वतंत्र भारत में गांधी जी कृषि-परम्परा का पालन करते हुए पथ-प्रदर्शक रहेंगे और नेहरू जी शासन सम्भालेंगे। राष्ट्रीय जीवन में दोनों एक दूसरे के पूरक थे; उनको मिलाकर ही राष्ट्रीय नेतृत्व का चित्र एक पूरा होता है। इसके बाद भी दोनों के बीच की वैचारिक दूरी दो ध्रुवों जितनी ही थी। कई बार नेहरू जी ने स्पष्ट कहा कि दोनों के बीच के मतभेद 'अलंध्य' हैं, उनको छिपाया या मिटाया नहीं जा सकता। इस पर गांधी जी कहते हैं कि जवाहरलाल उनकी ही भाषा बोलेंगे, लेकिन उनके मरने के बाद।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गांधी परम्परावादी थे और नेहरू आधुनिक। यह मौलिक मतभेद फिर समग्र क्षेत्रों में फैल गया। गांधी कहते थे कि मैं धर्म का प्रवेश कराने के लिये ही राजनीति में आया हूँ, जबकि नेहरू निजी तौर पर संशयवादी और राजनैतिक रूप से धर्म-निरपेक्ष थे। गांधी जी विकेन्द्रीकरण के समर्थक थे। वे नैतिक अराजकवादी थे। उनके अनुसार आदर्श भारत ''ग्रामीण गणतंत्रों का भारत'' होगा। वे रेलवे, अस्पताल और औद्योगिक विकास के विरोधी थे। नेहरू इस दृष्टि के प्रबल विरोधी थे। वे उद्योगों को 'आधुनिक भारत का मंदिर' कहते थे। नेहरू मानते थे कि सबसे महत्त्वपूर्ण काम तो यह है कि हम देश का औद्योगिक विकास करें, वितरण की बात बाद की है–''क्योंकि अगर हमारे पास वितरण के लिये कुछ नहीं है, तो हम केवल गरीबी बाँट सकते हैं।''।

औद्योगिक विकास की सीमाओं से नेहरू जी अपरिचित नहीं थे। उन्होंने 1929 के लाहौर कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था–"हमारे आर्थिक कार्यक्रम माननीय दृष्टिकोण से निर्धारित होने चाहिये और धन के लिये जन का बलिदान नहीं होना चाहिये। अगर कोई उद्योग अपने श्रमिकों को भूखा रखे बिना चल नहीं सकता तो उसे बंद ही हो जाना चाहिये"। नेहरू जी आधुनिक विकास को 'मानवीय चेहरा' देना चाहते थे। आधुनिक सभ्यता के उपभोक्तावादी दुर्गुणों से बचना चाहिये। ऐसा विवेक हम सबमें है। अपनी 'आत्मकथा' में वे लिखते हैं–"आधुनिक सभ्यता में बुराइयाँ भरी हैं, लेकिन उसमें अच्छाइयाँ भी हैं, और उसमें बुराइयों से छुटकारा पाने की क्षमता भी है। इसको समूल उखाड़ फेंकने का मतलब उस क्षमता से उसे वंचित करना और एक नीरस, निस्तेज और निरीह जीवन की ओर वापस लौटना होगा। हम परिवर्तन की नदी को रोक नहीं सकते और अपने को उससे अलग भी नहीं रख सकते और मनेवैज्ञानिक रूप से, जबकि हम लोगों ने ईडेन का सेब चख लिया है, हम उसके स्वाद को भूलकर आदिम अवस्था में जा भी नहीं सकते।"

नेहरू का दृष्टि-कोण साफ था, लेकिन उसमें अन्य (और प्रत्यक्षतः विरोधी) विचारों को स्वीकार करने की क्षमता भी थी। इसी वजह से नेहरू ने बहुत पहले से ही स्पष्ट कर दिया था कि उनकी औद्योगिक नीति के साथ खादी और कुटीर उद्योगों को भी महत्त्व मिलेगा। 1928 में कांग्रेस ने नेहरू की अध्यक्षता में योजना समिति का गठन किया था। नेहरू ने इस नीति को उस समय भी स्पष्ट कर दिया था। स्वतंत्र भार की अर्थ-नीति इसी रास्ते पर आगे चली।

सम्भवतः नेहरू जी को इस बात का अहसास था कि अपनी विशिष्ट मनोरचना के कारण वे पारम्परिक भारत के साथ गांधी जी जैसा तादाम्य स्थापित नहीं कर सकते थे। वस्तुतः उन्होंने लगभग तीस वर्ष की अवस्था में पहली बार, वह भी राजनैतिक कार्यक्रम के सिलसिले में, ग्रामीण भारत को निकटता से देखा था। भारत के बारे में जो ज्ञान नेहरू को लेना पड़ता था, वह गांधी की सहज बुद्धि, अवचेतन और अचेतन तक में भरा था। इसलिए नेहरू ने गांधी को "वैचारिक पिछड़ेपन" के बावजूद, "भारत का महानतम क्रान्तिकारी" माना है....."उनका व्यक्तित्व अद्भुत था; प्रचलित कसौटियों से उनकी परख करना या उनके बारे में तर्क-शास्त्र के सामान्य नियमों को लागू करना असम्भव था"। नेहरू के मन में गांधी के अप्रतिम नैतिक साहस के लिये सम्मान था। नेहरू अहिंसा के अनुयायी थे, उन्हें मार्क्सवादियों द्वारा हिंसा को क्रान्ति का अनिवार्य माध्यम बनाने पर कठोर आपत्ति थी। लेकिन वे फिर भी गांधी की तरह अहिंसा को अपनी 'आस्था का आधार' नहीं बना सके। फिर भी नेहरू इस अर्थ में गांधी के अनुयायी रहे कि उन्होने साधन को साध्य के समान ही उचित माना।

16.5 नेहरू और जनतांत्रिक समाजवाद

नेहरू के राष्ट्रवादी विचारों के अध्ययन में हमने पाया था कि उन्होंने सदैव राष्ट्रवाद को समाजवाद और साम्राज्यवाद-विरोध के परिप्रेक्ष्य में ही देखा। 1936 के लखनऊ अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होने कहा था....."मैं भारत की स्वतंत्रता के लिये इसलिए लड़ रहा हूँ, क्योंकि मेरे भीतक का राष्ट्रवादी विदेशी आधिपत्य को स्वीकार नहीं कर सकता; मैं इसके लिये और अधिक आग्रही इसलिये हूँ, क्योंकि मेरे हिसाब से यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की ओर एक अनिवार्य चरण हैं। मैं चाहता हूँ कि कांग्रेस एवं समाजवादी संगठन बन जाये और दुनिया की उन शक्तियों से हाथ मिलाये, जो एक नयी सभ्यता के लिये काम कर रहे हैं।" स्पष्ट है कि नेहरू कांग्रेस को बड़े लक्ष्य की ओर ले जाना चाहते थे। तत्कालीन कांग्रेस भारत के सभी वर्गों के राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लक्ष्य के लिये एकजुट करना चाहती थी, क्योंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता में सभी वर्गों का हित निहित था। इसके बावजूद

कांग्रेस का वास्तविक सामाजिक आधार राष्ट्रीय बोर्जुआ, मध्य वर्ग और छुद्र बोर्जुआ तक ही सीमित था। स्पष्टतः कांग्रेस में औद्योगिक सर्वहारा और छोटे-सीमांत किसानों तथा भूमिहीन श्रमिकों की सहभागिता कम थी। इसके बावजूद नेहरू ने समाजवाद के पक्ष में कांग्रेस को अपनी वर्गीय सीमाओं को अतिक्रमित करने की प्रेरणा दिया।

नेहरू इस मामले में तो सदैव साफ थे कि पूंजीवाद स्वतंत्र भारत का आदर्श नहीं हो सकता। उनका दृढ़ विश्वास था कि "पूंजीवाद अनिवार्यतः व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा, समूह का समूह द्वारा और देश का देश द्वारा शोषण करवाने की व्यवस्था करता है।" समस्या यह थी कि विकल्प क्या हो। 1920 के दशक में युवा नेहरू अपने सहयोगियों के साथ समाजवाद को एकमात्र विकल्प मान चुके थे। नेहरू इस वर्ग के निर्विवाद नेता थे। इस समाजवादी समूह में एक मौलिक अंतर था, जो स्वतंत्रता के बाद और मुखर हुआ। जयप्रकाश नारायण का समाजवाद धीरे धीरे विकेन्द्रीकरण की ओर जाकर सर्वोदयी हो गया। यह ग्रामीण गणतंत्रों वाला सामुदायिक समाजवाद था। डा0 लोहिया ने भी विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया और उसके साथ आर्थिक वर्गों के स्थान पर भारतीय जातियों को रख दिया। लोहिया ने माना कि भारतीय जातियाँ वस्तुतः "वर्गीय व्यवस्था का जड़ीभूत रूप" ही हैं। नेहरू का समाजवाद के प्रश्न पर इनसे मतभेद स्वतंत्रता के बाद इसलिए और बढ़ गया, क्योंकि जे0 पी0 और लोहिया स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस से बाहर आ गये।

नेहरू का समाजवाद बहुत कुछ शास्त्रीय प्रकार का था। उन्होंने स्पष्ट किया कि समाजवाद की मूल प्रेरणा मानवतावादी ही है। उनके अनुसार भारतीय समाज ने लम्बे दौर में सामाजिक स्थिरता तो हासिल किया, लेकिन सभी को न्याय नहीं मिल पाया। इस तरह समाजवाद आम भारतीय को न्याय और अधिकार प्रदान कराने वाली व्यवस्था है। नेहरू स्पष्ट करते हैं कि भावनात्मक मानवीय प्रेरणा के बावजूद समाजवाद एक व्यवस्थित वैज्ञानिक पद्धति है। 1933 में उन्होंने इंदिरा जी को लिखा था-------------- "मैंने तुम्हें बताया था कि समाजवाद के कई प्रकार हैं। फिर भी, इस अर्थ पर प्रायः आम सहमति है कि इसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित करना हैं। इसका अभिप्राय है-भूमि और खानें, उद्योग आदि, वितरण के साधन जैसे रेलवे आदि और बैंक जैसी एजेन्सियाँ। इसके पीछे विचार यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने संकीर्ण लाभ के लिये इन संस्थाओं के सहारे अन्य व्यक्तियों का शोषण न कर सकें।" प्रश्न यह है कि इसे किस प्रकार से लागू किया जाये। हम देखेंगे कि समाजवाद के स्वरूप और उसे लागू करने के तरीके-इन दोनों प्रश्नों पर नेहरू दुविधाग्रस्त रहे।

समाजवाद लागू करने के प्रश्न पर सामान्यतः नेहरू शांतिप्रिय तरीकों के पक्षधर रहे। फिर भी वे कई बार यह भी लिखते हैं कि सामान्यतः जनतांत्रिक तरीके से इतने बुनियादी बदलाव नहीं आते। कई बार तो उन्होंने यहाँ तक मान लिया है कि समाजवाद एक मॉडल है, जिसे असफल होने पर तिरस्कृत भी किया जा सकता है। इस संदर्भ में 'नेहरू एंड डेमोक्रेसी' के लेखक डी0 ई0 स्मिथ का विश्लेषण ठीक लगता है। उन्होंने लिखा है समाजवाद के स्वरूप और उसको लागू करने के प्रश्नों पर नेहरू का एक मत 1935 में और दूसरा 1955 में बना। राजनैतिक स्थिति में अंतर यह था कि 1935 में नेहरू युवा आंदोलनकारी थे और 1955 में एक बड़े देश के प्रधानमंत्री। 1930 के दशक में "नेहरू का निश्चित मत था कि विश्व के सामने पूंजीवाद और समाजवाद के स्पष्ट विकल्प हैं। .....1935 में नेहरू वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत को मानते थे, किंतु 1955 में उन्होंने इस विचार को छोड़ दिया और इस नये दौर में उनका समाजवाद जनतांत्रिक समाजवाद में परिवर्तित हो गया।" 1935 के दौर में नेहरू के विचार उग्र प्रतीत होते हैं। उस दशक के प्रारम्भ में आये विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दौर में वे यहां

तक मानने लगे थे कि सम्भवतः अब विश्व के सामने फासीवाद और समाजवाद के विकल्प ही मौजूद हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नेहरू विकलपों की उपलब्धता, उनमें से एक के 'सफेद' और दूसरे के काले होने और उनको क्रियान्वित करने के तरीके के बारे में उतने स्पष्ट नहीं रह गये। उदाहरण के लिये जनवरी 1955 के अवाडी अधिवेशन के उस एतिहासिक प्रस्ताव को लें, जिसमें समाज को 'समाजवादी पद्धति' से व्यवस्थित करने का संकल्प किया गया था। इस 'समाजवादी पद्धति' की व्याख्या भिन्न और कई बार विरोधी प्रकार से की गयी और एक पत्र के अनुसार "स्वयं नेहरू इस मामले में प्रखरतापूर्वक किया गया था। इस तरह पूरी अर्थव्यवस्था पर स्वाभाविक रूप से सरकार का निर्णायक नियन्त्रण स्थापित हो गया। इस नीति के अनुसार आयुध, रेलवे और नाभिकीय उर्जा के क्षेत्र में सरकार का आत्यान्तिक नियन्त्रण हो गया और छह उद्योगों में नयी इकाई स्थापित करने का एकाधिकार भी सरकार को प्राप्त हो गया। ये क्षेत्र थे--कोयला, लोहा और इस्पात, वायुयान और जलपोत निर्माण, डाक-तार से सम्बन्धित सामग्रियाँ तथा खनिज। इसके बाद का महत्त्वपूर्ण पड़ाव अवाडी प्रस्ताव के रूप में सामने आता है। 1955 के इस प्रस्ताव की राजनैतिक पृष्ठभूमि विवादास्पद रही है। माना जाता है कि इस प्रस्ताव के पीछे आंध्र के आंसन्न चुनावों में साम्यवादियों के प्रबल प्रभाव को ढीला करने की इच्छा अधिक थी। यह भी माना जाता है कि नेहरू ने चीन यात्रा से लौटकर बहुत अधीर मनःस्थिति में यह प्रस्ताव पारित करवाया। यह तो सही है कि नेहरू ने चीन जाकर यह अनुभव किया कि कम से कम एशिया में नेतृत्व के प्रश्न पर भारत को चीन से सामना करना पड़ेगा। फिर भी समाजवाद के प्रति नेहरू की प्रतिबद्धता पचीस वर्ष पुरानी थी। इस प्रश्न के उत्तर में नेहरू ने 1931 के कराची प्रस्ताव का संदर्भ दिया, जिसमें "प्रमुख उद्योगों को शासकीय स्वामित्व और नियन्त्रण में रखने' का संकल्प किया गया था। इस तरह यह विचार "धीरे-धीरे विकसित हुआ और अंततः इस रूप में सामने आया।"

अवाडी अधिवेशन के बाद दो बड़े कार्य हुये। एक तो संविधान के अनुच्छेद 31 को संशोधित करके निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण पर क्षतिपूर्ति के निर्धारण का अधिकार न्यायालय के स्थान पर संसद को दे दिया गया। समाजवादी कार्यक्रमों को लागू करने में निजी सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति को बाजार के दर पर तय करने से अत्यधिक असुविधा हो रही थी। साधारण सा दिखने वाला यह कार्य कितना विवादास्पद था, इसका अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि नेहरू के बाद भी दशकों तक सम्पत्ति का यह अधिकार सर्वाधिक विकट संवैधानिक प्रश्न बना रहा। इसके साथ शासन के इम्पीरियल बैंक का अधिग्रहण किया और मैनेजिंग एजेन्सी व्यवस्था को समाप्त कर दिया। इसके बाद 1956 की उद्योग नीति घोषित हुयी, जिसमें आत्यन्तिक अधिकार वाले क्षेत्रों की संख्या 6 से 7 कर दी गयी और 12 उद्योगों की एक नयी समवर्ती सूची बनायी गयी, जिसमें निजी भागीदारी की अनुमति तो थी लेकिन सार्वजनिक उद्योग को वरीयता दी गयी थी।

नेहरू के नेतृत्व में अंतिम बड़ा समाजवादी कार्यक्रम जनवरी 1959 में कांग्रेस के अधिवेशन में घोषित किया गया। यह कार्यक्रम अब तक की सबसे बड़ी वैचारिक छलांग भी थी। इसके जरिये खेतिहर ढाँचे का आमूल-चूल परिवर्तन होता था। इसमें आधन, विपणन और प्रबंधन आदि में सहकारिता को बढ़ावा देने की बात थी। इसमें विवाद नहीं था। सर्वाधिक विवाद का विषय सहकारी खेती का था। साम्यवादी देशों में भी सहकारी खेती की अनुत्पादकता से निराश होकर अंततः निजी खेती को प्रोत्साहित किया जा रहा था। भारतीय किसान तो सहकारी खेती की कल्पना भी नहीं कर सकता था। कांग्रेस के दक्षिणपंथी गुट ने इस मामले को काफी उछाला। इस गुट के कुछ लोगों ने बाद में स्वतंत्र पार्टी की स्थापना किया। सम्भवतः सहकारी खेती का नारा परिस्थितियों के प्रतिकूल था। यह मानना मुश्किल है कि भयंकर रक्तपात के बिना इसे कभी भी भारत में लागू किया जा सकता था। इसके आर्थिक

औचित्य का प्रश्न तो अलग है। समाजवाद के इस अतिवादी रूप से कुल मिलाकर समाजवाद ही अलोकप्रिय हुआ। इसके बाद अक्टूबर 1962 में चीन के भारत आक्रमण ने अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, समाजवाद को और अलोकप्रिय बना दिया। यह आक्रमण साम्यवादियों के लिये तो सांघातिक ही सिद्ध हुआ, साम्यवादी दल का स्थायी और लगभग उर्ध्वाधर विभाजन हुआ; साथ ही इससे समाजवाद को भी झटका लगा। यह माना जाता है कि चीनी आक्रमण ने नेहरू को अंदर से झकझोर दिया और अंततः उनकी मृत्यु का एक कारण बना।

नेहरू के साथ कई नव-स्वतंत्र अफ्रो-एशियाई देशों में भी उनके नेतृत्व ने इस कल्याणकारी राज्य वाले क्रमिक समाजवाद को अपनाया। यद्यपि इन देशों की तुलना में भारत की स्थिति बहुत अच्छी रही, फिर भी कहीं-न-कहीं इस समाजवाद के पीछे नेतृत्व का यह स्वार्थ भी था कि इसके सहारे वे समाज में अपना नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं। इस समाजवाद ने आम आदमी के ऊपर एक भीमकाय राज्य लाद दिया, जिसमें राष्ट्र की नियति का नियंत्रण नेता और नौकरशाह करते थे। नेहरू का यह विश्वास भी सही सिद्ध नहीं हुआ कि इस प्रकार की आधुनिक अर्थव्यवस्था जाति और धर्म जैसी पारम्परिक पहचान को कमजोर करके आधुनिक अस्मिताओं को जन्म देगी। समाजवाद के मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के मॉडल ने एक प्रकार से पूंजीवाद को ही प्रबल बनाया। इस व्यवस्था में भारी पूंजी और कम लाभ वाले आधारभूत उद्योग सरकार ने लगाये, जिससे कम पूंजी और अधिक लाभ वाले निजी उद्योगों को सस्ते 'इनपुट' मिले। इस व्यवस्था से उद्योगपतियों को किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुयी।

16.6 मार्क्सवाद का विश्लेषण

हम पढ़ चुके हैं कि नेहरू मध्यमार्गी समाजवाद से अपनी तरुणावस्था में ही प्रभावित हो चुके थे। अधिकांश साम्यवादी इसी रास्ते से साम्यवाद तक पहुँचे थे। साम्यवादियों के लिये समाजवाद सदैव अपने आप में एक अधूरा विचार रहा था, जिसकी तार्किक परिणति साम्यवाद ही हो सकती थी। आश्चर्य है कि प्रारम्भिक दौर में नेहरू इस समस्या से अधिक चिंतित नहीं दिखे। वास्तव में नेहरू ने साम्यवाद को गम्भीरता से 1927 से ही लेना शुरू किया, जब उन्होंने सोवियत संघ की यात्रा के दैरान साम्यवाद के व्यवहारिक परिणाम को देखा। उन्होंने विशेष तौर पर वहाँ शिक्षा, महिलाओं और श्रमिकों की स्थिति और तीव्र औद्योगीकरण की काफी प्रशंसा किया। इस अनुभव ने उन्हें साम्यवाद के गम्भीर अध्ययन के लिये प्रेरित किया। उन्होने साम्यवाद के आंकलन में नीर-क्षीर विवेक का ही प्रयोग किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि नेहरू का समाजवाद और साम्यवाद से सम्बन्ध क्रमशः भावुक और बौद्धिक रहा। उन्होंने प्रमुखतः अपने बौद्धिक विश्लेषणों में ही साम्यवादी उपागम का प्रयोग प्रचुरता से किया उन्होंने 'आत्मकथा' में लिखा... "मार्क्स और लेनिन के अध्ययन ने मेरे मन पर प्रबल प्रभाव डाला और मुझे इतिहास और सामाजिक घटनाओं को समझने की एक नयी दृष्टि दिया।" इस नयी दृष्टि का प्रयोग उन्होंने सबसे अधिक इतिहास के विश्लेषण में किया। चूँकि नेहरु की दोनों सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तकें 'ग्लिम्पसेज..' और 'डिस्कवरी...' इतिहास पर ही केन्द्रित हैं, इसलिये नेहरू की मार्क्सवादी छवि वास्तविकता से अत्यदिक गाढ़ी दिखती है। वस्तुतः उनके समग्र साहित्य को देखने से लगता है कि वे मार्क्सवाद को सीमित क्षेत्र में समर्थन देते हैं लेकिन साम्यवाद के मुखर विरोध से भी संकोच नहीं करते।

नेहरू ने मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि का समर्थन मुख्यतः इतिहास, साम्राज्यवाद और साम्प्रदायिकता के विश्लेषण में किया है। उन्होंने माना है कि इतिहास राजवंशों की वीरगाथा मात्र नहीं है। उसके विकास-क्रम में महानायक घटनाओं के चमत्कारी प्रवर्तक प्रतीत होते हैं। ये घटनायें भी भिन्न-भिन्न और

असम्बद्ध कारणों से घटती हैं, जिनमें निजी वीरता, प्रतिद्वन्दिता, भावना, वासना और महत्त्वाकांक्षाओं की महत्त्वपूर्ण भमिका होती है। इन घटनाओं का कोई प्रतिमान या प्रतिरूप नहीं बनता है–बस, वे होती जाती हैं। कभी विकास होता है, कभी विनाश नेहरू ने माना है कि मार्क्सवादी उपागम ने उन्हें वस्तुगत कारणों से अवगत कराया। प्रत्येक समाज का आधार उत्पादन-सम्बन्धों से बनता है, जिसके ऊपर संस्कृति, साहित्य, राजनीति और नैतिकता का 'सुपर स्ट्रक्टर' खड़ा होता है। तमाम तकनीकी कारणों से उत्पादन प्रणाली बदलती है, उससे उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव आता है और इस तरह बुनियादी बदलाव से उसी की संगति में सुपरस्ट्रक्चर बदलता है। इस तरह नैतिकता और मानवीयता भी निरपेक्ष और परम नहीं है। परवर्ती समय ने नेहरू ने इस मान्यता का विरोध किया, लेकिन अन्यथा इस पूरी दृष्टि से वे सही मानते थे। उनका इतिहास लेखन इसी र्ढरें पर है। वे वीर पुरुषों, राजवंशों, धार्मिक प्रवृत्तियों और आकस्मिक तत्वों को अधिक महत्त्व नहीं देते।

नेहरू ने साम्राज्यवाद का विश्लेषण भी लेनिनवादी तरीके से किया है। यहाँ तक कि इस व्याख्या के आधार पर वे यह भी मानने लगे थे कि चूँकि पूंजीवाद अब कहीं फासीवाद और कहीं साम्राज्यवाद में परिवर्तित हो गया है, इसलिये अब इनके विकल्प में साम्यवाद ही बचा है। साम्प्रदायिकता के विश्लेषण में भी उन्होंने सामाजिक-आर्थिक आयामों को ही महत्त्व दिया, जो उनके अनुसार धर्म का राजनैतिक प्रयोग करके साम्प्रदायिक को जन्म देते हैं। इस पर हम आगे ध्यान देंगे।

नेहरू मार्क्सवादी दर्शन को लेकर उहापोह में थे। इस दर्शन के धर्म और अंधविश्वास-विरोधी विचार से वे सहमत थे। मार्क्स ने धर्म की भौतिकवादी व्याख्या किया, जिसमें धर्म का विरोध उतना नहीं था, जितना इस बात का स्पष्टीकरण था कि आखिरकार किन स्थितियों में धर्म 'पीड़ित मानव की आह' और 'जनता का अफीम' बन गया है। नेहरू ने पदार्थ को प्राथमिक तत्व माना। मनोरचना पदार्थ का ही विस्तार है जिस पर वैज्ञानिक पद्धति के कार्य-कारण नियम तथा वाद-प्रतिवाद-संवाद की द्वन्दात्मकता लागू होती है। परिमाणात्मक परिवर्तन अचानक गुणात्मक छलांग लगाता है। यहाँ तक नेहरू मार्क्सवाद को स्वीकार करते थे। समस्या इसके बाद शुरू होती है... "मेरे मन में अक्सर एक आदर्शवादी विचार प्रणाली काम करने लगती थी, जो सारतः वेदान्त दर्शन जैसी लगती थी। इसके अलावा नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि भी थी। मैंने अनुभव किया कि नैतिक धारणा अधिकांशतः उस युग के मानसिक वातावरण से सुनिश्चित होती है। इसके अलावा बहुत कुछ और है, अधिक स्थायी प्रकार के आदर्श हैं। दूसरे लोगों की तरह मुझे भी इन आधारभूत आदर्शों और साम्यवादियों के आचरण के बीच पाया जाने वाला अंतर अच्छा नहीं लगता है।" वे आगे लिखते हैं... "(मार्क्सवादी) दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भी उसके निष्कर्ष और उसके आधार पर अतीत तथा वर्तमान की व्याख्या को कभी मैं साफ तौर पर समझ नहीं पाया। सामाजिक विकास के सिलसिले में मार्क्स का व्यापक विश्लेषण मेरी समझ से असाधारण तौर पर सही है, फिर भी बाद में कई ऐसी घटनायें घटी हैं, जो उसके दृष्टिकोण के असंगत हैं।"

मार्क्सवाद की कई नकारात्मक प्रवृत्तियाँ साम्यवाद में और अधिक बढ़कर आयीं। नेहरू की शिकायत थी कि मार्क्स ने नैतिकता और अन्य भावनात्मक पहलुओं को सिर्फ थोड़ा पीछे रखा था, साम्यवादियों ने उनको फेंक ही दिया। उनके अनुसार साम्यवादी हिंसा और अनैतिकता का प्रयोग करने में संकोच नहीं दिखते। उन्हें इस बात पर भी आपत्ति थी कि साम्यवादी आँखें बंद करके मार्क्सवाद को मानते हैं... "मैं मुख्यतः साम्यवादी इसलिए नहीं हूँ, क्योंकि मुझे साम्यवादियों द्वारा साम्यवाद को 'पवित्र सिद्धांत' मानने पर आपत्ति है। शायद मैं कुछ अधिक मात्रा में व्यक्तिवादी हूँ। मैं यह की महसूस करता हूँ कि साम्यवादी साधनों में हिंसा अत्यधिक प्रयुक्त होती है।"

नेहरू का विश्वास था कि हर विचारधारा समय और स्थान के अनुसार महत्त्वपूर्ण होती है। साम्यवादी इसके विपरीत यूरोप में विकसित हुये मार्क्सवाद को सीधे भारत में लागू करना चाहते थे, जबकि नेहरू के अनुसार एक तो भारत में औद्योगिक सर्वहारा की शक्ति नगण्य है और दूसरे देश में ग्रामीण अर्थव्यवस्था प्रबल है, जिसमें भूमिहीन श्रमिक कम और सीमांत किसान अधिक हैं। इन कारणों से भारत में साम्यवादी क्रान्ति नहीं हो सकती। एस0 एन0 रॉय ने तो साम्यवाद की सम्भावना को सशक्त दिखाने के लिये सर्वहारा की संख्या को अनुचित ढंग से बढ़ाकर दिखाने से भी परहेज नहीं किया। नेहरू मानते थे कि साम्यवादी इस प्रकार की गलती इसलिये करते हैं, क्योंकि वे राष्ट्रवाद को समझ नहीं पाये और और विवेक का प्रयोग करना तो भूल ही गये। 1954 में उन्होंने कहा... ''उन्हें अपनी जन्मभूमि से कोई लगाव नहीं है, बल्कि ने प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन के लिये बाहरी देशों की ओर देखते हैं। उनका मानना है कि अनवरत् विघ्नों, हिंसा और खून-खराबे से ही वे अपना लक्ष्य पा सकते हैं।'' 1945 में नेहरू के नेतृत्व में गठित की गयी कांग्रेस की समिति ने कांग्रेस से साम्यवादियों को बाहर निकाला था। आरोप था कि साम्यवादियों ने विशेष तौर पर 1942 के भारत छोड़ों आंदोलन में अंग्रेजों से मिलकर देश को धोखा दिया था।

हम देखते हैं कि सन् 1940 के आस-पास नेहरू साम्यवादियों के विरोधी हो गये थे। उन्होंने साम्यवादियों के विरुद्ध बड़े आरोप लगाये। उनका वक्तव्य है-''कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी तो नहीं हैं, मेरी समझ से वे रूढ़िवादी हैं।'' 1952 में एक प्रेस वार्ता में उन्होंने कहा... ''मेरे हिसाब से मार्क्सवाद अब पुराना पड़ गया है। अब इनकी बात करना प्रतिक्रिया मात्र है। साम्यवादी बहुत आग उलगते हैं, लेकिन कुछ मामलों में उनका नजरिया पूर्णतः प्रतिक्रियावादी है।'' 1958 में नेहरू ने भारतीय साम्यवादियों की इस बात पर निंदा किया कि वे मास्को के भय से यूगोस्लाविया के टीटो का विरोध कर रहे हैं। उसी के आस-पास उन्होंने पूरी साम्यवादी विश्व दृष्टि को ही नकार दिया... ''साम्यवादी कभी उदारीकरण करते हैं, कभी जनतांत्रीकरण और कभी नारा देते हैं-'सैकड़ों फूलों को खिलने दो'। ...फिर वे उल्टे चलने लगते हैं और खिलने लायक फूलों को तोड़ कर फेंके जाने लायक खर-पतवार में बदल देते हैं।''

16.7 जनतंत्र के प्रति निष्ठा

हमने अध्याय के आरम्भ में ही उल्लेख किया था कि महात्मा गांधी और सरदार पटेल स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों के भीतर ही दिवंगत हो गये। इस प्रकार नव-स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण निर्माण का भार और बढ़ गया, यद्यपि नेहरू को उस दायित्व के अनुपात में ही अधिकार भी प्राप्त थे। दुनिया के अधिकांश नव-स्वतंत्र देशों में जल्दी ही लगभग स्थायी रूप से अधिनायकवाद आ गया। अगर नेहरू अधिनायक बनाना चाहते तो उनके रास्ते में स्वयं नेहरू ही आ सकते थे। स्वयं नेहरू के जनतांत्रिक संस्कार ही नेहरू को अधिनायकवाद की आशंका से आगाह करते थे। यह दिलचस्प बात है कि नेहरू ने इस आशंका को समझते हुये स्वयं ही 'चाणक्य' के छद्म नाम से 'दि प्रेसीडेंट' शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने सचेत किया था... ''वे (यानी नेहरू) स्वयं को प्रजातांत्रिक और समाजवादी कहते हैं और निसन्देह वे निष्ठावान भी हैं, लेकिन चीजों के मामूली से मोड़ पर ही वे अधिनायक बन सकते हैं।...जवाहरलाल फासिस्ट नहीं बन बन सकते, लेकिन उनमें अधिनायक बनने की सभी संभावनाएं उपस्थित हैं-व्यापक लोकप्रियता, दृढ़ संकल्प, अभिमान और जनता का स्नेह, अन्य के प्रति असहनशीलता।... उन पर अंकुश लगाया जाना चाहिये।''

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि नेहरु जनतंत्र के प्रति कितने संवेदनशी थे। आत्मकथा में उन्होंने

अगर ऐसे संशोधन न किये गये होते तो समाजवादी कार्यक्रम क्या, यहाँ तक कि बोर्ज्वा-जनतांत्रिक कार्यक्रम को भी लागू करना कठिन होता है। जमींदारी व्यवस्था और राजाओं के विशेषाधिकार भी समाप्त नहीं किये जा सकते थे। मौलिक अधिकारों पर इतनी मर्यादा स्थापित करना उचित था।

16.8 कर्म, धर्म-निरपेक्षता और साम्प्रदायिकता

हम देख चुके हैं कि युवा नेहरू पर सबसे गम्भीर प्रभाव अपने पिता का पड़ा था, जिसकी झलक उनके धार्मिक विचारों में भी दिखती है। अध्ययन के दिनों में बर्टेंड रसेल के संशयवाद और आस्कर वाइल्ड जैसे विचारकों के सुखवाद ने उन्हें धर्म से दूर रखा। एक अत्यंत कर्म-निष्ठ देश में लोकप्रिय और बाद में चुनावी राजनीति करने के बाद भी उन्होंने कभी भी धर्म के पारलौकिक पक्ष पर कभी ध्यान नहीं दिया। ईश्वर के अस्तित्व, उसके रूप और गुण अथवा मृत्योपरांत मानव की गति जैसे विशुद्ध धार्मिक पहलुओं पर उन्होंने कभी विचार नहीं किया... "सारतः मैं इस दुनिया में दिलचस्पी रखता हूँ, इस दुनिया में–न कि किसी दूसरी दुनिया में या किसी भावी जीवन में। मुझे यह नहीं मालूम कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं या मृत्यु के बाद कुछ बचता भी है या नहीं। हालांकि ये सवाल बहुत अहम हैं, लेकिन इनसे मुझे मामूली सी भी परेशानी नहीं होती।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है..."मैं इसलोक के बाद की चिंता नहीं करता। ...मुझे यह समझ में नहीं आता कि लोग इस बात की चिंता क्यों करते हैं कि आगे कुछ है या नहीं। मैं ऐसी सम्भावना को इन्कार भी नहीं करता। मेरे हिसाब से इस मामले में सबसे सही नजरिया बुद्ध का था, जिन्होंने न तो इसे अस्वीकार किया और न ही इस पर जोर दिया।"

यह स्पष्ट है कि नेहरू नास्तिक नहीं, सिर्फ संशयवादी थे। धर्म के नैतिक पक्ष के प्रबल प्रभाव को उन्होंने सदैव स्वीकारा है। इसके अतिरिक्त उनमें न्यूनतम स्तर की रहस्यात्मक-आध्यात्मिक चेतना भी थी। प्रकृति के अनंत विस्तार, उसके बहुविध रूप और उन सबको बाँधने वाले किसी परम प्राधिकार पर उनको आधारभूत आस्था अवश्य थी। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि यह चेतना एक ओर तो सर्वेश्वरवाद है और चूंकि समस्त सृष्टि में परम सत्ता की व्याप्ति है, इसलिये यही चेतना अद्वैतवाद की ओर भी ले जाती है। नेहरू ने सर्वेश्वरवाद और अद्वैतवाद–दोनों पर विश्वास प्रकट किया है:..
"प्रकृति की विविधता और सम्पूर्णता मुझे स्पन्दित करती है और आत्मा का सामंजस्य उत्पन्न करती है। मैं प्राचीन भारतीय या यूनानी सर्वेश्वरवादी परिवेश में सुखी होने की कल्पना कर सकता हूँ।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है... "पुराने हिंदू विचार की ओर, आस्था के अभाव में भी मैं आकर्षित होता हूँ कि यदि इस विश्व में दिव्य तत्त्व है तो प्रत्येक व्यक्ति में इसका अंश अवश्य है और वह उसको विकसित कर सकता है। इसलिये कोई व्यक्ति तुच्छ नहीं है।" ध्यान देने वाली बात है कि स्वतंत्रता आंदोलन के प्रायः सभी नेता इसी अद्वैतवाद का आश्रय लेते थे, क्योंकि अंग्रेजी दासता के विरुद्ध संघर्ष में यह भावना बहुत सहारा लेती थी कि हम भारतीयों में भी ईश्वर का अंश है। हर मनुष्य में एक आत्मा है और ईश्वर परमात्मा यानी परम आत्मा है। अद्वैतवाद का समर्थन करने के पीछे सम्भवतः नेहरू के मन में यह उपयोगिता वाला पक्ष भी रहा होगा।

हम देखते हैं कि नेहरू ने धर्म में दिलचस्पी मुख्यतः उसके नैतिक प्रभाव के कारण ही दिखायी थी। साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में हम इसी दृष्टि का विस्तार पाते हैं–अर्थात् धर्म के विशुद्ध धार्मिक (यानी पारलौकिक) पक्ष की उपेक्षा और उसके सामाजिक-आर्थिक-नैतिक पक्ष पर विशेष जोर देना। नेहरू के अनुसार साम्प्रदायिकता धर्म की स्वाभाविक परिणति नहीं है, बल्कि वह धर्म का रुग्ण राजनैतिक दुरुपयोग है। साम्प्रदायिकता को समझने के लिये हमें धर्म का नहीं, उन सामाजिक-आर्थिक तत्वों का अध्ययन करना चाहिये, जो अपने लाभ के लिये धर्म का दुरुपयोग करते हैं। उनके अनुसार

साम्प्रदायिकता प्रतिक्रियावादियों के हाथ का हथियार है।

नेहरू ने साम्प्रदायिकता के अपने सामाजिक-आर्थिक उपागम का प्रयोग ब्रिटिश कालीन साम्प्रदायिकता के अध्ययन में किया। उनका विश्लेषण इस प्रकार है। अंग्रेजी राज में सेवायोजन का आधार अंग्रेजी शिक्षा हो गयी जिसमें हिंदुओं ने विशेष योग्यता प्राप्त किया। जमींदारी की स्थायी व्यवस्था में भी हिंदुओं को अच्छा लाभ मिला। गाँव में महाजनी का काम पारम्परिक रूप से हिंदू ही करते थे। कुल मिलाकर अंग्रेजी शासन की विशेष परिस्थितियों के कारण मध्यवर्ग, सामंतों और सहूकारी में हिंदुओं का अनुपात बहुत बढ़ गया। हिंदुओं की ये भूमिकाएं कई बार मुस्लिमों को शोषक सी लगती थीं और कई बार ईर्ष्या का कारण बनती थीं। वस्तुतः इन भूमिकाओं का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति से न्यस्त स्वार्थों को प्रेरित किया कि वे इन भेदों को धार्मिक रंग दे दें। अंग्रेजों ने मामूली व्यवसायिक विभेद को भी धार्मिक विभेद में बदलवाने का सुव्यवस्थित प्रयास किया। उन्होंने प्रेरित किया कि सामान्य शैक्षिक, सांस्कृतिक या सामाजिक कार्य को भी हिंदू या मुस्लिम नाम से जोड़ा जाये, ताकि एक तो दोनों की धार्मिक पहचान प्रबल हो और उसका स्वरूप वैमनस्यात्मक या कम से कम प्रतिद्वन्दात्मक हो। नेहरू के अनुसार अंग्रेजों को सबसे पहले मुस्लिमों में यह भावना पैदा करने में सफलता मिली, क्योंकि वे अल्पसंख्यक होने के कारण विशेष रूप से संवेदनशील थे। समय के साथ हिंदुओं में भी साम्प्रदायिक भावना घर कर गयी। नेहरू ने यह भी लिखा है कि प्रत्यक्षतः तो हिंदू और मुस्लिम साम्प्रदायिकता एक दूसरे की विरोधी थीं, लेकिन वस्तुतः दोनों एक दूसरे को बढ़ाती थीं। विपन चंद्रा ने इसे प्रतियोगितात्मक साम्प्रदायिकता ('काम्पिटीटिव कम्यूनलिज्म') का नाम दिया है।

साम्प्रदायिकता का यह सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण परवर्ती समय में लोकप्रिय हुआ। इसका श्रेय नेहरू को मिलना चाहिये। फिर भी इस विश्लेषण में कुछ सरलीकरण है। एक सवाल यह है कि अंग्रेजी शासन में हिंदुओं और मुस्लिमों ने जिन अलग भूमिकाओं में विशिष्टता हासिल किया, उसके पीछे कुछ मात्रा में धार्मिक कारण भी अवश्य था। नेहरू की यह स्थापना भी पूर्णतः सत्य नहीं है कि इन दोनों साम्प्रदायिकताओं ने कभी अंग्रेजी शासन से संघर्ष नहीं किया। नेहरू की इस मान्यता पर भी प्रश्न उठ सकता है कि बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता पर ही प्रहार करना उचित होगा, जैसा उनकी जीवनी के आधिकारिक लेखक सर्वपल्ली गोपाल ने इंगित किया है। एक तथ्य यह भी है कि नेहरू के आँकड़े केवल बंगाल के लिये ठीक थे। हंटर की पुस्तक के कारण यह भ्रम हो गया कि मुस्लिम पूरे भारत में हिंदुओं से पीछे थे। वस्तुतः संयुक्त प्रांत में मुस्लिम 1947 तक सरकारी नौकरियों और वकालत आदि में हिंदुओं के बराबर थे।

धर्म और साम्प्रदायिकता के बाद अब हम नेहरू की धर्म निरपेक्षता की धारणा पर विचार करेंगे। नेहरू ने स्पष्ट माना कि धरम-निरपेक्षता वास्तविकता नहीं है। उनके अनुसार धर्म निरपेक्षता 'में की कतिपय नैतिक मूल्य और आचार के कुछ निश्चित मानक होने चाहिये और जब हम इस पर विचार करते हैं तो हम ऐसे क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, जिसे धार्मिक कहा जाता है।'' नेहरू की धर्मनिरपेक्षता के दो निहितार्थ स्पष्ट हैं। एक तो यह कि राज्य धर्मतन्त्रीय नहीं होगा अर्थात् राज्य का कोई आधिकारिक धर्म नहीं होगा। 1931 के कराची कांग्रेस में नेहरू ने 'मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य' पर जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, उसके अनुच्छेद (1) (ix) में कहा गया था–'राज्य सभी धर्मों के मामले में तटस्था की नीति का अनुसरण करेगा।' इस धर्म निरपेक्षता का सकारात्मक पक्ष है, जिसे इस सर्व-धर्म समभाव कहते हैं।

यह स्पष्ट है कि नेहरू की धर्म-निरपेक्षता धर्महीनता नहीं है। धर्म निरपेक्षता में बहुधर्मिता और भारतीय परम्परा की उदात्त सांस्कृतिक देन को स्वीकार किया गया है। नेहरू ने धर्म प्रवर्तन चक्र और पंचशील

जैसी धार्मिक मान्यताओं को भारतीय राष्ट्रीय पहचान के प्रतीक बनायें। नेहरू ने यह भी स्पष्ट किया था कि राज्य धार्मिक समूहों में मानवीय सुधार लाने के लिये कृत संकल्प है। इसी कारण से भारतीय संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों में समान नागरिक संहिता बनाने का लक्ष्य रखा गया है। नेहरू ने हिन्दू कोड बिल के लिये विशेष प्रयास किया, जिसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। नेहरू की धर्म निरपेक्षता धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की निष्क्रियता नहीं है। नेहरू जानते थे कि समाज सुधार के बड़े कार्य धार्मिक वर्गों में होते हैं और अगर राज्य की धर्म-निरपेक्षता धर्महीनता होगी तो राज्य को धार्मिक वर्गों से संवाद स्थापित करने का नैतिक अधिकार नहीं रहेगा।

16.9 सारांश

इस अध्याय में हमने स्वतंत्र भारत के महानतम राजनेता के व्यक्तित्व और विचारों का अध्ययन किया। नेहरू जी के नेतृत्व को इस बात का श्रेय मिलना चाहिये कि भारतीय जनतंत्र पूरी तरह सुरक्षित रहा। हमने संसदीय व्यवस्था को चुना था, क्योंकि ब्रिटिश भारत में अधूरे तौर पर ही सही, यही वेस्टमिंस्टर मॉडल लागू था। हम पाते हैं कि तीसरी दुनिया के देशों में जनतंत्र ही सुरक्षित नहीं रहा और संसदीय व्यवस्था तो अपवादतः ही जीवित रही। इन देशों में कई बार राष्ट्रीय अक्षुण्णता को बचाने के नाम पर और कई बार क्षेत्रीय, नस्ली, धार्मिक या भाषाई तनाव को कम करने के नाम पर जनतंत्र को और विशेषतः संसदीय व्यवस्था को नष्ट किया गया। भारत में भी इन आधारों पर भिन्नता कम नहीं थी, लेकिन नेहरू के नेतृत्व में इन सबका शांतिपूर्ण समायोजन किया गया और विविधता में एकता के सूत्रों की तलाश की गयी।

नेहरू ने अपनी लोकप्रियता का प्रयोग अपने आधुनिकतावादी कार्यक्रमों को लागू करने में किया। नेहरू के व्यक्तित्व का बल न होता तो धर्म निरपेक्षता और समाजवाद जैसे विचार इस सीमा तक प्रभावी न होते। विभाजन के बाद के माहौल में साम्प्रदायिक राजनीति प्रभावी हो सकती थी और राष्ट्रीय एकता को खतरे में बताकर या वैसे भी कोई अन्य नेता कांग्रेस के प्रचण्ड बहुमत का दुरुपयोग करके अपना अधिनायकवाद, भले ही अल्पकाल के लिये, स्थापित कर सकता था। नेहरू ने जन भावनाओं का सम्मान ही नहीं किया, कई बार अपनी लोकप्रियता दांव पर लगाकर जनता को कतिपय आधुनिक अवधारणाओं के लिये तैयार भी किया। महान नेतृत्व का यही असाधारण गुण होता है और नेहरू इस कसौटी पर खरे उतरे।

16.10 उपयोगी पुस्तकें

1. जवाहर लाल नेहरू – एन आटोबायोग्राफी (जान लेन, दि बोदली हेड, लंदन, 1936)
2. जवाहर लाल नेहरू – ग्लिम्पसेज़ ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री (लिंडसे ड्रमंड, लंदन, 1939)
3. जवाहर लाल नेहरू – डिस्कवरी ऑफ इंडिया (द सिगनेट प्रेस, कलकत्ता, 1946)
4. फ्रैंक मॉरिस – जवाहर लाल नेहरू (जैसो पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1959)

16.11 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नेहरु के जनतांत्रिक समाजवाद सम्बन्धी विचारों का विवेचन कीजिये।
2. धर्मनिरपेक्षता के सम्बन्ध में नेहरु के विचारों का उल्लेख कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नेहरु के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों का संक्षेप में उल्लेख कीजिये।
2. गाँधी और नेहरु के बीच सहमति और असहमति के बिन्दु क्या थे।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. नेहरु पहली बार कांग्रेस के सभापति कब बने?

   (अ) 1928

   (ब) 1929

   (स) 1930

   (द) 1931

2. नेहरु ने कांग्रेस के कहाँ हुए अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में कांग्रेस के समाजवादी संगठन बचाने की बात कही थी?

   (अ) लखनऊ अधिवेशन

   (ब) लाहौर अधिवेशन

   (स) बम्बई अधिवेशन

   (स) करांची अधिवेशन

16.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. (ब)
2. (अ)

इकाई 17 : डॉ0 भीमराव अम्बेडकर

रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 जीवन वृत्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

17.3 ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में जाति-प्रथा

17.3.1 वर्ण व्यवस्था से जातियों का जन्म

17.3.2 अस्पृश्यता का अंतः धार्मिक संघर्ष की परिणति

17.3.3 जातिवादी समानता के संघर्ष में डा0अम्बेडकर

17.3.4 जातिवादी असमानता का आत्मघाती असर

17.3.5 जातिवाद का उन्मूलन

17.4 धर्म का महत्व और बौद्ध धर्म की विशेषताएँ

17.5 बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद

17.6 भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद

17.7 "आर्थिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण"

17.8 राष्ट्रवाद का स्वरूप और भारतीय राष्ट्रवाद

17.9 सारांश

17.10 उपयोगी पुस्तकें

17.11 सम्बन्धित प्रश्न

17.12 प्रश्नोत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जान सकेंगे कि–

- भारतीय समाज के एक बड़े और अत्यंत उपेक्षित दलित वर्ग की राजनैतिक चेतना का विकास किस प्रकार हुआ, उसने किस प्रकार के संघर्षों से अपने अधिकार प्राप्त किये, और
- राष्ट्रीय मुख्यधारा ने किस प्रकार दलितों के साथ हुए अमानवीय अत्याचारों का संज्ञान लेकर राजनैतिक जनतंत्र का आधार व्यापक करने का प्रयास किया और इस प्रकार जनतंत्र के सार्वजनिक-आर्थिक आधारों को सशक्त बनाकर एक ऐतिहासिक समस्या को सुलझाने का प्रयास किया।

17.1 प्रस्तावना

भारत में बीसवीं सदी अर्थात् आधुनिक युग का आरम्भ एक विकट ऐतिहासिक समस्या के उभार के साथ हुआ। यह समस्या भारतीय समाज के लगभग 20% दलितों की थी जो अपने अत्यंत औचित्यपूर्ण अधिकारों के लिये संघर्ष करने की तैयारी कर रहे थे। समय आ गया था जब वे संगठित हो सकते थे। इतिहास में कई वर्गों का दमन हुआ है, उन वर्गों ने प्रायः दमन का प्रतिरोध भी किया, लेकिन यह कड़वी सच्चाई है कि समाज ने दमन के सत्य और प्रतिरोध के औचित्य को उसी समय स्वीकार किया, जब प्रतिरोध के सफल होने की भौतिक परिस्थिति बन जाती है। हम मान सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी आते-आते दलितों के लिये ऐसी भौतिक परिस्थिति बन गयी थीं। दलितों का दमन करने वाली ग्रामीण व्यवस्था टूट रही थी, संचार के साधन विकसित हो रहे थे और राष्ट्रीय सत्ता सवर्णों के हाथ में नहीं, बल्कि औपनिवेशिक शासकों के पास थी। जब इस तरह की अनुकूल भौतिक परिस्थिति बन जाती है, तब उसके अनुकूल विचारधारा भी विकसित हो जाती है। मार्क्सवादी शब्दावली में कह सकते हैं कि वह वर्ग ('क्लास इन हटसेल्फ') सचेत वर्ग ('क्लॉस फार इटसेल्फ') में बदल जाता है।

बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में दलित जागरण की प्रक्रिया प्रबल हो गयी थी। इसे चरम पर पहुँचाने के लिये दलितों को अपने बीच से ही ऐसे उपवर्ग और नेतृत्व की आवश्यकता थी, जो पूरे आंदोलन को आक्रामकता, वैचारिक स्पष्टता और क्षेत्रीय सघनता दिला सके। अगर ऐसा न होता, तो भी दलित जागरण प्रतिगामी नहीं होता लेकिन ऐसा उपवर्ग और नेतृत्व मिल जाने के कारण दलित आंदोलन और अधिक तेजी से बढ़ सका। हम कह सकते हैं कि भारतीय दलितों को यह नेतृत्व महाराष्ट्र के महार समुदाय और डा0 अम्बेडर से मिला। महार समुदाय नेतृत्व कर सकने की स्थिति में था क्योंकि वे सम्भवतः पूरे भारत के दलितों में सर्वाधिक सशक्त थे। एक मत तो यह भी है कि महाराष्ट्र का नाम भी महार समुदाय के ऊपर पड़ा है। महार मराठी भाषी क्षेत्रों में 10% के लगभग हैं। पारम्परिक रूप से वे गाँव की रक्षा और चौकीदारी का काम करते थे। प्रायः वे शारीरिक दृष्टि से सबल हुआ करते थे। शायद इन्हीं कारणों से महार लोगों को इस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी बाम्बें आर्मी में बड़ी संख्या में नियुक्त किया। इस प्रकार नयी ब्रिटिश व्यवस्था के सम्पर्क में वे काफी पहले ही आ गये। ब्रिटिश समर्थ और सेना में सेवायोजन के कारण महार तत्कालीन दलित समुदाय के मानदंड से काफी आगे थे।

यह भी एक संयोग है कि इसी महार समुदाय में डा0 अम्बेडकर जैसे इतिहास-पुरुष का जन्म हुआ। हमें दो विशेष कारणों पर भी ध्यान देना चाहिए। एक तो यह है कि महाराष्ट्र में समाज-सुधार की लम्बी पृष्ठभूमि और परम्परा होने के बावजूद दलित नेतृत्व अनुपस्थित था, जिस कमी को महार जन और डा0 अम्बेडकर पूरा कर सकते थे। बात यह थी कि उन्नीसवीं शताबदी में प्रार्थना समाज और रानाडे तथा अगली सदी की शुरुआत में वी आर शिंदे जैसे समाज सुधारकों ने दलितों के मामले में शिक्षा पर ही ज्यादा जोर दिया। अधिक आक्रामक होने के बावजूद ज्योतिबा फुले और उनके सत्यशोधक समाज की भी सीमा यही थी। इस तरह दलित समाज के राजनैतिकीकरण और उसके प्रतिनिधित्व का ऐतिहासिक दायित्व डा0अम्बेडकर पर ही आया और फिर यह स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय स्तर तक फैल गया। दूसरी बात यह है कि कुछ मामलों में डा0अम्बेडर के बचपन और परिवार की परिस्थिति नेतृत्व के बहुत अनुकूल थी। यह अलग बात है कि डा0 अम्बेडकर को बाद में शिक्षा का स्वर्णिम अवसर मिला और सोने पर सुहागा यह था कि डा0 अम्बेडकर असाधारण रूप से अध्ययनशील और अध्यव्सायी निकले। अगर परवर्ती परिस्थिति इतनी असाधारण न होती, तो भी

शायद एक ऐतिहासिक संयोग से राष्ट्रीय स्तर पर दलित नेतृत्व डा0 अम्बेडकर के पास ही होता। हमारा आशय डा0अम्बेडकर की शहरी और सैनिक पृष्ठभूमि से है। पूरे जीवन में केवल कुछ समय के लिये, प्राथमिक शिक्षा कें लिये वे अपने पैतृक गांव के पास के दापोली कस्बे में रहे। सतारा के बाद उनकी शिक्षा बम्बई में हुई। नेतृत्व स्थापित करने के लिये एक अतिरिक्त आधार उनके परिवार की सैनिक पृष्ठभूमि थी। उनका जन्म पश्चिमी कमान के मुख्यालय में हुआ, जिसका नाम–महू इसी मुख्यालय का संक्षिप्त रूप था। (मिलिट्री हेडक्वार्टर ऑफ दि वेस्ट–एम0एच0ओ0डब्लू) अम्बेडकर के पिता, उनके नाना और नाना के छह भाई, चारों बहिनों के पति और उनके एक भाई सीधे सेना में ही थे। इस सैनिक पृष्ठभूमि ने निसन्देह अम्बेडकर को अनुशासन, व्यापक दृष्टि, दृढ़ संकल्प और लक्ष्य के लिये एकाग्रता का पाठ पढ़ाया होगा।

हमने इस पृष्ठभूमि को देखा, जिसने डा0 अम्बेडकर की असाधारण प्रतिभा को प्रस्फुटित होने का असाधारण अवसर दिया। यह भी एक संयोग है कि उस समय महाराष्ट्र में ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन चल रहा था, जो कि बाद में विशेषतः तमिलनाडु और केरल में फैला। कुल मिलाकर स्पष्ट दिखने लगता है कि 1923 में विदेश से दो भागों में उच्चतम शिक्षा समाप्त करके आने के बाद राष्ट्रीय स्तर पर दलित आंदोलन का नेतृत्व डा0 अम्बेडकर ही कर सकते थे। यह इतना सुनिश्चित सा दिखने लगता है ऐसे यह कोई दैवीय व्यवस्था हो। समय के साथ अम्बेडकर का प्रभाव बढ़ता ही गया, जिसकी चर्चा हम अब करेंगे। आज अगर हम भारत में मैक्स वेबर के 'चमत्कारी नेतृत्व' का उदाहरण पाना चाहेंगे तो निर्विवादतः इसमें गाँधी जी के साथ डा0 अम्बेडकर का ही नाम आयेगा। यह भी सत्य है कि इन दोनों महापुरुषों कें बीच सम्भवतः सर्वाधिक कटु विवाद भी हुआ। एक विद्वान के अनुसार अगर हम गाँधी को राष्ट्रीय मुख्यधारा का पूर्णतः प्रामाणिक प्रतिनिधि मानते हैं, तो डा0 अम्बेडकर को उसका प्रतिपक्ष या उत्तर-आधुनिकतावादी शब्दावली में 'अन्य' ('दि अदर') मानना पड़ेगा। एक तरह से ब्रिटिश भारत की भारतीय राजनीति इन्हीं दो ध्रुवों के बीच ही फैली रही है। इन दोनों का अध्ययन करते समय हमें नीर-क्षीर विवेक का प्रयोग करना चाहिए। हम पायेंगे कि सत्य बहुत विस्तृत होता है और इसमें दोनों महापुरुष समाहित हो सकते हैं।

17.2 जीवन-वृत्त, व्यक्तित्व और कृतित्व

जैसा हमने संकेत किया, भीमराव रामजी अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 को इंदौर के निकट सैनिक मुख्यालय में हुआ। उनके पिता रामजी सकपाल महार बटालियन में सूबेदार थे और आंग्ल-अफगानिस्तान युद्ध (1878–90) में भाग ले चुके थे। बाद में उन्हें सूबेदार-मेजर का पंद मिला और वे सेना में ही शिक्षक बन गये। इसी पद पर उन्होंने रावलपिंडी में काम किया और फिर स्थान्तरित होकर महू सन् 1888 में पहुँचे। बालक भीमराव पाँच वर्ष के थे जब उनकी माँ–भीमाबाई का देहांत हो गया। उनका पालन-पोषण उनकी एकलौती बुआ ने किया। बालक भीमराव को पालन-पोषण में एक समस्या यह भी आयी कि उनके पिता को समय पूर्व सेवानिवृत्त होना पड़ा। आर्थिक संकट के उस दौर में भीमराव मात्र तीन वर्ष के थें।

बालक भीमराव का बचपन बहुत कठिनाइयों में बीता। माँ की मृत्यु हो गयी, पिता सेवा निवृत्त हो गये और परिवार में बुजुर्ग भी नहीं थे। उन्हें अस्पृश्यता और आर्थिक संकट का भी सामना करना पड़ा। सौभाग्य यह था कि उनके पिता रामजी ने अपने सबसे छोटे बेटे की शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया। रामजी के चौदह बच्चे थे, जिनमें जीवित बचे सात बच्चों में भीमराव सबसे छोटे थे। हो सकता है भीमराव की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने का एक बड़ा कारण यह भी रहा हो कि रामजी सैनिक से

कहीं अधिक शिक्षक बन गये थे और सेवा निवृत्त होने के कारण उन्हें समय भी मिल गया। रामजी की आर्थिक स्थिति भले ही ठीक न रही हो, लेकिन उनका बौद्धिक स्तर अपने समय और समाज के संदर्भ में काफी ऊँचा था। डा0 अम्बेडकर बाद में अपने अंग्रेजी के ज्ञान के लिये अपने पिता को श्रेय देते थे। रामजी ने 1892 में रानाडे के सहयोग से बम्बई के राज्यपाल को एक ज्ञापन देकर यह माँग की थी कि ब्रिटिश सेना में महारों के सेवायोजन पर लगा प्रतिबंध हटाया जाये। ऐसे और भी प्रकरण सामने आये हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि डा0 अम्बेडकर को सामाजिक प्रतिबद्धता और नेतृत्व की क्षमता पैतृक परम्परा से मिली थी।

बालक भीमराव की प्राथमिक शिक्षा उनके कोंकण स्थित पैतृक कस्बे दापोली से शुरु हुई। फिर उनका परिवार सतारा होते हुए अन्ततः स्थायी रूप से बम्बई पहुँच गया, जहाँ उन्होंने कुछ समय मराठा हाईस्कूल में अध्ययन करके फिर एलफिंस्टन स्कूल में प्रवेश लिया। यहीं से भीमराव की प्रतिभा का प्रस्फुटन हुआ। इस विद्यालय में भी उन्हें अस्पृश्यता का अमानवीय अपमान झेलना पड़ा। उनकी प्रतिभा को पहचान करके कई बुद्धिजीवियों ने उनकी सहायता भी किया। उनको और उनके भाई मुकुन्दराव को संस्कृत पढ़ने नहीं दिया गया, जिस कारण से उन्हें दूसरी भाषा के रूप में हाईस्कूल में फारसी पढ़ना पड़ा। वहीं से उन्होंने एफ0ए0 (इंटरमीडिएट) भी किया, जिसमें प्रख्यात समाज सुधारक एस के बोले और कृष्ण अर्जुन केलुस्कर जैसे लोग प्रमुख थे। केलुस्कर ने अपनी पुस्तक 'दि लाइफ आफ गौतम बुद्धा' से भीमराव को पहली बार भगवान बुद्ध की महानता से परिचित करवाया। उन्होने ही भीमराव को बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ से मिलवाकर बीए के लिए 25/- मासिक की छात्रवृत्ति की व्यवस्था करवाया, जिस कारण से उन्हें अपेक्षाकृत बड़ा घर लेकर निश्चित होकर पढ़ने का अवसर मिल सका। इस तरह उन्होंने 1912 में राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र लेकर बीए उत्तीर्ण किया। इस उपलबधि के कुछ समय बाद 1913 में एक दुखद घटना हुई, जब उनके पिता जी का देहांत हो गया। उस समय वे बड़ौदा राज्य के एक सैनिक अधिकारी थे।

वर्ष 1913 में ही उन्हें बड़ौदा राज्य की ओर से विदेश में शिक्षा के लिये तीन वर्ष की अवधि की छात्रवृत्ति मिली। यहाँ यह पृष्ठभूमि भी स्पष्ट करना चाहिए कि उनका विवाह सत्रह वर्ष की उम्र में रमाबाई के साथ हुआ था जबकि रमाबाई मात्र नौ वर्ष की थीं। एक बड़ा दुर्भाग्य यह था कि उनके पाँच बच्चों में से मात्र यशावंतराव ही जीवित बचे। उन्होंने लिखा है कि दूसरे बेटे गंगाधर की मृत्यु आर्थिक अभाव के कारण हुई और उसकी मृत्यु के समय उनके पास अंतिम संस्कार के लिये भी धन नहीं था। उनके सबसे छोटे बेटे राजरत्न की मृत्यु 1926 में हुई, जबकि उनकी आर्थिक स्थिति ठीक हो चुकी थी। इस तरह के भावनात्मक कष्टों के बीच ही उनका अध्ययन और फिर राजनैतिक जीवन चला। संक्षेप में 1913 से 1916 के बीच उन्होंने अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एम ए किया और शोध ग्रन्थ भी लिखकर जमा कर दिया। उसी साल वे लंदन गये लेकिन छात्रवृत्ति न मिलने के कारण भारत आकर सिडेन्हम कॉलेज, बम्बई में शिक्षण कार्य में लग गये। 1920 में कोल्हापुर के शासक शाहू महाराज की छात्रवृत्ति से वे फिर लंदन गये। वहाँ उन्होंने फिर एम0 ए0 किया और पीएचडी के साथ 1923 में ग्रेज इन से बैरिस्टरी की उपाधि भी प्राप्त कर लिया। उन्होंने डी एस सी की दो उपाधियाँ प्राप्त कीं, जिनके विषय थे-'नेशनल डिविडेंट ऑफ्र इंडिया' औ 'प्राब्लमं ऑफ रूसी'। हम कह सकते हैं कि डा0 अम्बेडकर ने उच्च शिक्षा नहीं बल्कि उच्चतम शिक्षा प्राप्त किया और उस युग में सम्भवतः किसी भी समुदाय के सामाजिक व्यक्ति ने ऐसी शिक्षा लेने में रुचि या क्षमता का प्रदर्शन नहीं किया। 1923–24 के डा0 अम्बेडकर को हर सामाजिक वर्ग अपना नेतृत्व देने में गर्व का ही अनुभव करता।

डा0अम्बेडकर ने 1923 में भारत लौटकर बम्बई के अपीलीय न्यायालय में वकालत शुरू किया, जिसमें उन्हें एन एम जोशी और डी ए खरे जैसे प्रख्यात व्यक्तियों के साथ काम करने का अवसर मिला। इसी के साथ वे बाटलीबॉय एकाउंट्सी इन्स्टीच्यूट में वाणिज्यिक विधि के अंश कालिक शिक्षक भी रहे। 1924 में उन्होंने अपने मिशन का प्रारम्भ किया जिसकी तैयारी में उन्होंने अब तक पूरा जीवन लगाया था। उनकी पहली संस्था का नाम बहिष्कृत हितकारिणी सभा था और उसी के साथ उन्होंने 'बहिष्कृत भारत' नाम से एक मराठी साप्ताहिक भी शुरू किया। बाद में उन्होंने 'मूक नायक' और 'जनता' नाम से भी पत्रिकाएँ प्रकाशित किया। अपने मिशन के लिये डा0 अम्बेडकर बहुत स्पष्ट थे। इसी कारण उन्होने विकट परिस्थितियों में भी कभी सरकारी नौकरी का विचार तक नहीं किया। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि विदेश में अध्ययन की अवधि में वे कुछेक भारतीय छात्रों में से एक रहे होंगे, जिन्होंने समाजवाद जैसे विचारों से कोई विशेष लगाव नहीं महसूस किया। उनके मस्तिष्क में यह साफ था कि भारत का अस्पृश्य समाज पूरे विश्व में अनोखा है, इसलिए उसकी मुक्ति की विचारधारा बाहर से नहीं आ सकती।

डा0 अम्बेडकर बम्बई की धारा सभा में 1927 और 1932 में मनोनीत किये गये और उसके बाद 1937 के आम चुनाव में विजयी होकर कुल मिलाकर 12 वर्ष अनवरत् सदस्य होकर उन्होंने कार्य किया। 1937 के चुनाव में उनके स्वतंत्र श्रमिक दल ने 17 आरक्षित स्थानों में से 15 और उसके साथ-साथ अन्य स्थान प्राप्त करके मुख्य विपक्षी दल की स्थिति प्राप्त किया। वे विधिवेत्ता थे और श्रमिक दल के नेता थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से उन्होंने विशेषकर श्रमिकों के कल्याण के लिए विधायी कार्यों में काफी योगदान किया। 1942 से 1946 की अवधि में वायसरॉय की कार्यकारी परिषद के श्रमिक सदस्य के रूप में उन्हें फिर इसी कार्य को आगे बढ़ाने का अवसर मिला। पहले दौर में उन्होंने श्रमिकों के पक्ष में औद्योगिक विवाद अधिनियम का विरोध किया और इसके साथ ही दलित भाइयों के पक्ष में वतनदारी और खोती जैसे व्यवस्थाओं पर प्रहार किया। वतनदारी प्रथा बेगारी का ही परिष्कृत रूप था और खोती प्रणाली में खेतिहर श्रमिकों को कोई स्थायी अधिकार नहीं थे।

वर्ष 1927 में डा0 अम्बेडकर ने महाड सत्याग्रह और 1930 में नासिक के कालाराम मंदिर में प्रवेश को लेकर हुए बड़े आंदोलनं का नेतृत्व किया। महाड कस्बे के चौदार तालाब के पानी से अस्पृश्यों को वंचित रखा गया था। इस आंदोलन में ही 1927 में उन्होंने मनुस्मृति को सार्वजनिक रूप से जलाया। 1930 का कालाराम मंदिर आंदोलन 1935 तक चला, जिसकी असफलता पर 1936 में उन्होंने नासिक के पास के येवला कस्बे में धर्मान्तरण की घोषणा किया। आधुनिक भारत की राजनीति में इन दोनों आंदोलनों को युगान्तरकारी माना जाता है। 1927 से 1935 की इस अवधि में डा0 अम्बेडकर हिंदू या अधिक सटीक शब्दों में, ब्राह्मणवादी व्यवस्था को भीतर से सुधारने का प्रयास कर रहे थे। 1935 में उनका मोहभंग हो गया, जिसका प्रमाण उस वर्ष प्रकाशित हुए उनके लेख 'जाति उन्मूलन' में भी मिलता है। इसी बीच 1930–32 के बीच हुए तीनों गोलमेज सम्मेलनों में भी उन्होंने दलित समाज का प्रतिनिधित्व किया। हम पाते हैं कि उन्होने धार्मिक दृष्टि से अलग होने की घोषणा तो 1935–36 में किया लेकिन राजनैतिक दृष्टि से अलग अधिकार पाने का प्रयास तो उन्होंने 1930 के गोलमेज सम्मेलन से ही शुरू कर दिया था। उनका विचार था कि "सामाजिक दृष्टि से अलग रह रहे वर्ग को राजनैतिक दृष्टि से भी अलग रहने का अधिकार मिलना चाहिये।" यहाँ तक तो सर्वसम्मति थी कि दलितों के चुनाव-क्षेत्रों का आरक्षण हो। डा0 अम्बेडकर इसके आगे जाकर यह मांग कर रहे थे कि पृथक चुनाव क्षेत्र के साथ पृथक मतदाता मंडल भी हो, जिस प्रश्न पर दूसरे गोलमेज सम्मेलन में उनका गाँधी से तीखा विवाद हुआ। गाँधी का कहना था कि मुस्लिम तो सदैव मुस्लिम रहेंगे, लेकिन दलित (या अस्पृश्य) सदैव दलित या अस्पृश्य नहीं रहेंगे। ब्रिटिश शासन ने अम्बेडकर की मांग को

अपने साम्प्रदायिक पंचाट में स्वीकार कर लिया, जिसके विरुद्ध गाँधी के अनशन के बाद 24 सितम्बर 1932 को गांधी और अम्बेडकर के बीच पूना समझौता हुआ।

अपने सक्रिय सार्वजनिक जीवन में डा0 अम्बेडकर ने दो बार बहुत आश्चर्यजनक ढंग से अपने दृष्टिकोण को बदला। गोलमेज सम्मेलन पहला उदाहरण था, जब उन्होंने अचानक लंदन में पृथक मतदाता मंडल की मांग रख दिया। उसके पहले साइमन आयोग तक में उन्होंने संयुक्त मतदाता मंडल को स्वीकार किया था। ऐसा लगता है कि लंदन में ब्रिटिश शासकों ने अलगावाद को अपनी ओर से भी बहुत बढ़ावा दिया, जिससे डा0 अम्बेडकर भी प्रभावित हुए। डा0 अम्बेडकर ने इसी प्रकार 1946 में दूसरी बार अपने दृष्टिकोण को आश्चर्यजनक ढंग से बदला, जब 1942 से कांग्रेस और कांग्रेस के नेतृत्व में मिलने वाली स्वतंत्रता का विरोध करते-करते वे अचानक कांग्रेसी सरकार में ही शामिल नहीं हुए, बल्कि उन्होंने कांग्रेस की इच्छा से बनने वाले संविधान को लिखने के लिए बनायी गयी प्रारूप समिति की अध्यक्षता को भी स्वीकार कर लिया।

पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर करते हुए डा0 अम्बेडकर ने स्पष्ट किया था कि संयुक्त मतदाता-मंडल से दलितों को न्याय नहीं मिल सकेगा। दलितों के प्रति शेष समाज की मानसिकता इतनी नकारात्मक है कि वे चुनाव में आरक्षित सीटों पर उसी दलित को विजयी बनायेंगे, जो सभी दलित प्रत्याशियों में सर्वाधिक समझौतावादी हो। 1942 और 1952 के चुनावों में समाजवादियों के साथ चुनाव लड़ने के बाद भी स्वयं डा0अम्बेडकर चुनाव हार गये और उनका शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन बुरी तरह से पराजित हुआ। संविधान सभा में आने के लिए भी डा0 अम्बेडकर को पहले मुस्लिम लीग और फिर कांग्रेस की सहायता लेनी पड़ी। डा0 अम्बेडकर जुलाई 1942 से जुलाई 1946 तक गर्वनर जनरल की कार्यकारी परिषद में सदस्य रहे, जिसे एक प्रकार से कैबिनेट मंत्री का पद माना जा सकता है।

डा0 अम्बेडकर ने सितम्बर 1946 में लंदन जाकर ब्रिटिश शासन को यह समझाने का प्रयास किया कि भारत को स्वतंत्रता देते समय दलितों की सुरक्षा की संवैधानिक व्यवस्था सुनिश्चित कर ली जाये। असफल होने पर उन्होंने स्वतंत्र भारत के राष्ट्र निर्माण के महत्वपूर्ण कामों में कांग्रेस की सहायता करने का निश्चय किया। नवम्बर 1946 में वे संविधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। संविधान सभा में उन्होने अपने पहले भाषण में स्पष्ट कर दिया कि यह समय है जब हमको देश की एकता के लिये आपसी मतभेद भूलकर काम करना चाहिए। डा0 अम्बेडकर अगस्त 1947 को प्रारूप समिति के अध्यक्ष चुने गये, जिस स्थिति के कारण ही उन्हें भारतीय संविधान का निर्माता माना जाता है। उनके अध्यक्ष बनने पर डा0राजेन्द्र प्रसाद की टिप्पणी है..."हमने उन्हें प्रारूप समिति का सदस्य और अध्यक्ष बनवाया और हम इससे अच्छा और कोई निर्णय कर ही नहीं सकते थे। उन्होने न केवल चुनाव को औचित्यपूर्ण सिद्ध किया बल्कि अपने काम को आभा भी प्रदान किया।" डा0 अम्बेडकर ने संविधान के साथ विधान निर्माण के भी कई काम किये। नेहरू मंत्रिमंडल के विधि मंत्री के रूप में उनका सर्वाधिक ऐतिहासिक काम हिंदू कोड बिल को प्रस्तुत करना था। यह विधेयक संसद में अक्टूबर 1948 में प्रस्तुत किया और अनेक प्रकार से चर्चा में रहा और खिंचता भी रहा। इसको टुकड़ों में पारित किया गया और यह जिस भी रूप में पारित हुआ, एक उपलब्धि के रूप में ही स्मरणीय होगा। इस विषय पर डा0 अम्बेडकर कांग्रेस से निराश हो चुके थे। मंत्रिमंडल में लगभग सवा चार साल रहने के बाद 1952 के पहले आम चुनाव के मात्र तीन महीने पहले डा0 अम्बेडकर ने त्यागपत्र दिया। इस चुनाव में असफल रहने पर वे राज्यसभा में गये।

डा0 अम्बेडकर ने 1936 में ही घोषणा किया था कि यद्यपि वे हिंदू पैदा हुए हैं लेकिन वे हिंदू रहकर मरेंगे नहीं। उसके पहले से ही वे बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हो रहे थे। 1949 में उन्होंने काठमांडू

के बौद्ध अधिवेशन में भाग लिया था। इसी तरह वे 1954 के रंगून अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए थे। इन अधिवेशनों में उन्होंने बौद्ध धर्म बनाम मार्क्सवाद तथा भारत में बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर व्याख्यान दिये। अंतः उन्होंने नागपुर में एक विशाल सम्मेलन में 14 अक्टूबर 1956 के दिन बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। 1936 में कहा गया उनका वाक्य कुछ अजीबे ढंग से संदर्भित होता है, क्योंकि बौद्ध धर्म अपनाने के डेढ़ महीने बाद 6 दिसम्बर को उनका देहावसान हो गया।

डा0 अम्बेडकर एक सामान्य प्रकार के बुद्धिजीवी नहीं थे, बल्कि उनमें विषय की विशेषज्ञता और अकादमिक अनुशासन भी था। उन्होंने अपने अध्ययन के अनुरूप ही विस्तृत लेखन भी किया है। लगभग दस पुस्तकें तो उनके निधन के बाद ही प्रकाशित हुई है। तमाम, आयोगों, सम्मेलनों और धारा-सभाओं में उनके वक्तव्य और प्रतिवेदन भी पुस्तकों जैसी गम्भीरता लिये हुए हैं, जिनमें से कुछ अभी भी अप्राप्य हैं। उन्होंने मुख्यतः आर्थिक पहलुओं, जातिवाद, अल्पसंख्यक, भाषाई प्रांतों के औचित्य, जनतंत्र, साम्यवाद और बौद्ध 'धम्म' पर लिखा है। अस्पृश्य और शूद्रों को इतिहास में ढूँढ़ने के लिये उन्होंने पर्याप्त गम्भीर शोध किया है। उनकी पुस्तकों का समग्र संकलन कई स्थानों से प्रकाशित हो चुका है, लेकिन इनमें से कोई भी पूर्ण नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके नाम पर कुछ विवादास्पद लेखों को भी प्रकाशित किया गया है। डा0 अम्बेडकर की भाषा और लेखन-शैली गागर में सागर भरने का प्रयास करती है और हमें उनकी महानता के आगे नतमस्तक कर देती है। उन्होंने पत्रिकाओं में भी काफी लिखा है, बौद्ध धर्म के उपदेशों का संकलन किया है और समाज की हर गतिविधि से अपना सरोकार रखा है। उनके लेखन में कुछ समस्याएं भी हैं। एक तो यह कि वर्गीय और दलीय राजनीति में रहने के कारण वे कई बार केवल एक पक्ष को ही प्रस्तुत करते हैं। कुछ वकील रहने के कारण भी उनका प्रयास होता है कि उनका पक्ष मुकदमा किसी भी प्रकार से जीत जाये। जैसे भारत के बंटवारे का समर्थन करने के लिये उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि भले ही पूरी मुस्लिम आबादी को पाकिस्तान और हिंदू आबादी को हिंदुस्तान ले जाना पड़े, बँटवारा हो ही जाना चाहिए। एक समस्या यह भी है कि वे बहुत बड़े-बड़े उद्धरणों को शामिल करते हैं, जिससे पुस्तक का आकार बढ़ता है और वे प्रायः अपाठ्य हो जाती हैं।

17.3 ऐतिहासिक सामाजिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में जाति प्रथा

17.3.1 वर्ण-व्यवस्था से जातियों का जन्म

डा0 अम्बेडकर की मनोरचना मूलतः पश्चिमी उदारवाद से प्रभावित थी, लेकिन भारतीय जातियों के विश्लेषण में उन्होंने उदारवादी मान्यताओं में थोड़ा संशोधन किया है। वे उदारवाद की इस मान्यता से थोड़ा असहमत हैं कि इतिहास लगभग सीधी रेखा की तरह सदैव आगे ही बढ़ता है और मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर प्रगतिशील विकास के कारण धर्म का प्रभाव कम होता जाएगा। डा0 अम्बेडकर के अनुसार इतिहास प्रतिगामी भी हो सकता है और धर्म की नियंत्रक भूमिका न तो कभी कम होगी तथा उसे कम होना भी नहीं चाहिए। उन्होने उदारवाद की इस आधारभूत अवधारणा को भी अस्वीकार किया कि विश्लेषण की मौलिक इकाई समाज या वर्ग नहीं बल्कि अहंवादी व्यक्ति है। हम देखेंगे कि भारत में जातियों के जन्म के ऐतिहासिक आख्यान में उन्होंने इन दोनों उदारवादी मान्यताओं को अस्वीकार किया है।

प्रश्न यह है कि जातियों का जन्म कैसे हुआ? उनके अनुसार विद्वानों ने इस 'कष्टदायक प्रश्न' को या तो 'दुखद ढंग से' अनदेखा कर दिया या फिर यह मान लिया कि जाति का जन्म नहीं, बल्कि शताब्दियों के विस्तार में क्रमिक विकास हुआ है। उनके अनुसार "अंतर विवाह जाति की एकमात्र निर्णायक विशेषता है", इसलिये यह देखना होगा कि अंतर-विवाह की उत्पत्ति कब हुई। कबीलाई समाज बाह्य-विवाह करते हैं और उनमें सगोत्र विवाह के विरोध की भावना अभी भी प्रबल दिखती है। बाह्य-विवाद करने वाले इन समुदायों के सम्मिलन और इस तरह बने बड़े वर्ग पर अंतर-विवाह का अध्यारोपण ही जाति के जन्म के रूप में सामने आया। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि उनके विश्लेषण में व्यक्ति नहीं, वर्ग या समुदाय ही आते हैं। वे यह स्पष्ट नहीं करते हैं कि अगर अंतर-विवाह जाति के जन्म का कारण है, तो अंतर-विवाह के जन्म का कारण क्या है और अगर अंतर विवाह और जातियाँ एक ही हैं (जैसा उन्होंने कई बार कहा है), तो फिर इन दोनों कार्यों (इफेक्ट्स) का उभयनिष्ठ कारण (काज) क्या है।

अम्बेडकर यह भी मानते हैं कि जातियों को जन्म प्रगतिशील नहीं बल्कि प्रतिगामी घटना है। उनके अनुसार प्राचीन भारत में जातियाँ नहीं बल्कि गुण-कर्म के आधार पर काम करने वाली अत्यंत लचीली वर्ण-व्यवस्था थी। प्रत्येक चार वर्ष के 'युग' या 'मन्वंतर' के बाद सबको मनु और सप्तवर्षियों के एक 'साक्षात्कार मंडल' के सामने जाना पडता था। इन अभ्यर्थियों से सप्तर्षि ब्राह्मणों का और मनु क्षत्रियों, वैश्यों का चुनाव कर लेते थे। शेष शूद्र बन जाते थे। इसके बाद "आचार्य गुरुकुल व्यवस्था" आयी, जिसमें बच्चों को 12 वर्ष तक अपने गुरुकुल में पढ़ाने के बाद गुरुजन बच्चों का वर्ण-निर्धारण कर देते थे। अम्बेडकर के अनुसार यह नयी व्यवस्था पुरानी से "निसंदेह श्रेष्ठ" थी। चूँकि गुरुजन बच्चों के साथ रहते थे, इसलिए वे बच्चों के "व्यक्तित्व को जानते थे", जो कि "व्यक्ति के वर्ण-निर्धारण की श्रेष्ठ पद्धति थी", इसलिए "इस नयी प्रक्रिया को हम एक महान सुधार मान सकते हैं" डा0 अम्बेडकर के अनुसार इस व्यवस्था में योग्यता को मानदंड बनाया गया था, लेकिन प्रश्न यह है कि बच्चों में योग्यता प्रायः तो उनके परिवार और आर्थिक स्थिति आदि से निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि निर्धन, अशिक्षित समस्याग्रस्त या विखंडित परिवारों के बच्चे अयोग्य ठहरा दिये जायेंगे। दूसरी समस्या इससे भी बढ़ी है। वह यह है कि एक बार अयोग्य ठहरा दिया गया बच्चा पूरे जीवन अयोग्य माना जायेगा, जबकि मन्वंतर वाली पुरानी व्यवस्था में हर चार वर्ष बाद वर्ण-परिवर्तन की आशा थी। आश्चर्य है कि अम्बेडकर इस नयी व्यवस्था को 'निसन्देह श्रेष्ठ' मानते हैं। उनके अनुसार इस नयी व्यवस्था से ऊँचे वर्ण वाले व्यक्तियों को अपने पूरे जन्म भर का विशेषाधिकार मिल जाता था, लेकिन उनके बच्चों का गुरुकुल में नीचे रहने और इस तरह निचले वर्ण में गिर जाने की आशंका मंडराती रहती थी। अम्बेडकर के अनुसार ब्राह्मणों ने इस समस्या से निपटने, अर्थात् वर्ण को वंशानुगत बनाने के लिए "हम जितना सोच सकते हैं, वैसे ही अत्यधिक धृष्टतापूर्ण ढंग से" एक नया काम किया।

अम्बेडकर के अनुसार ब्राह्मणवाद के इस नये काम से ही जातियों का जन्म हुआ। नयी व्यवस्था यह बनी कि पिता घर पर ही बच्चे का उपनयन करके बच्चे को अपना वर्ण देकर गुरुकुल भेजेगा, जैसी व्यवस्था मनु ने दिया है। ऊपरी वर्ण के लोगों ने विशेषाधिकार को वंशानुगत बना लिया। अब उन्होंने इसे सुरक्षित करने के लिए अंतर-विवाह अपना लिया। अम्बेडकर मानते हैं कि वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच नहीं था, उसमें एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने की व्यवस्था थी, जन्म के स्थान पर योग्यता का महत्व था और ब्राह्य-विवाह था, जबकि जाति-व्यवस्था इन चारों महत्वपूर्ण मामलों में वर्ण-व्यवस्था के ठीक विपरीत है। ऐसा प्रतीत होता है कि अम्बेडकर वर्ण-व्यवस्था को अनावश्यक महिमा-मंडित कर रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था या कोई भी सामाजिक व्यवस्था हो, चाहे जितनी लचीली और खुली व्यवस्था क्यों न हो, उसमें पद-सोपानात्मक अवश्य होगी। फिर उन्होंने जिन बाह्य-विवाहों के उदाहरण दिये हैं,

(पाराशर और मत्स्यगंधी, शांतनु और गंगा), वे अपवाद दिखते हैं और वैवाहिक कम, विवाहेतर अधिक दिखते हैं।

अम्बेडकर के अनुसार सर्वप्रथम ब्राह्मणों ने अंतर-विवाह की व्यवस्था अपना कर अपने को वर्ण के स्थान पर जाति बना लिया। उनके अनुसार ब्राह्मणों या मनु ने किसी अन्य वर्ण को जाति में बदलने का काम नहीं किया। "ब्राह्मणों ने बहुत गलत काम किये हैं...लेकिन गैर ब्राह्मण जनों पर जाति व्यवस्था लादने का काम उनकी क्षमता के बाहर था।...मनु ने जाति का विधान नहीं दिया। उनके बहुत पहले से जातियां थीं। वे वर्तमान हिंदू व्यवस्था को नहीं बना सकते थे। उन्होंने उस समय प्रचलित जाति नियमों को संहिताबद्ध किया और जाति धर्म के पालन का उपदेश दिया। उनका काम यहीं पर समाप्त हो गया।" यह स्पष्ट नहीं है कि अम्बेडकर बार-बार यह क्यों कहते हैं कि ब्राह्मणों ने अन्य पर जाति व्यवस्था आरोपित नहीं किया, क्योंकि जब ऊपरी वर्ग अंतर-विवाह ही करेंगे, तो अन्य वर्ग भी स्वाभाविक रूप से यही करने को बाध्य हो जायेंगे और इस प्रकार जातियों का जन्म हो जाएगा। उनके अनुसार मनु ने सिर्फ जाति नियमों को संहिताबद्ध किया और जाति धर्म के पालन का उपदेश दिया। प्रथाओं को नियम बनाना, नियमों को संहिताबद्ध करना और फिर इनके अनुपालन को धर्म बताना–एक प्रकार से यह जाति व्यवस्था को जन्म देना ही है। सभी सामाजिक व्यवस्थाएँ 'घटना' की तरह किसी गर्भ से जन्म नहीं लेती बल्कि उनकी प्रक्रिया का विकास होता है, इसलिए हम 'जन्म' शब्द का प्रयोग अभिधा में नहीं, लक्षणा और व्यंजना में ही करते हैं। इस अर्थ में मनु को "जाति धर्म" का जन्मदाता माना जा सकता है।

अम्बेडकर के अनुसार वर्ण व्यवस्था पहले 'आचार्य गुरुकुल व्यवस्था' से आजीवन बनी, फिर पिता द्वारा उपनयन करने से वंशानुगत हुई, फिर अंतर-विवाह से जाति में बदल गयी और अंततः कतिपय नवाचारों से दुर्ग जैसी अविचल और अभेध्य बन गयी। जातियों ने नियम न मानने पर बिरादरी से बाहर करने की व्यवस्थाएँ बनायीं। एक समस्या विधुरों और विधवाओं की थी जो बाह्य-विवाह करने के लिये विवश हो सकते थे और इस प्रकार जाति व्यवस्था को तोड़ सकते थे। अम्बेडकर ने इसे "अतिरिक्त पुरुषों और अतिरिक्त महिलाओं की समस्या" बताया है। उनके अनुसार 'अतिरिक्त महिलाओं' की समस्या का समाधान एक तो सती के द्वारा और दूसरा वैधव्य की कठोर व्यवस्था द्वारा किया गया। 'अतिरिक्त पुरुषों' की समस्या को दूर करने के लिए बाल विवाह की व्यवस्था बनायी गयी। उनके इस विवरण में बहुत जटिलता है। क्या हम यह नहीं मान सकते कि अतिरिक्त पुरुष और अतिरिक्त महिलाओं के लिये इतनी जटिल व्यवस्था की जगह पर एक सरल प्रक्रिया यह हो सकती थी कि अतिरिक्त पुरुष अतिरिक्त महिलाओं से ही विवाह कर लें। क्या सती और उससे भी बढ़कर बाल विवाह का प्रचलन इसी कारण से हुआ? अम्बेडकर के इस विश्लेषण में वर्ण की इतनी प्रशंसा क्यों की गयी है, जबकि अन्य स्थानों पर उन्होंने वर्ण-व्यवस्था को "एक खतरनाक व्यवस्था", "व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से एक मूर्खता और एक अपराध" तथा "सामाजिक संगठन की अत्यधिक निकृष्ट व्यवस्था" बताया है, "जो अच्छे कार्य करने से व्यक्तियों को उदासीन, अपाहिज और लकवाग्रस्त बना देता है।" उनके अनुसार केवल "पैदाइशी मूर्ख" ही चातुर्वर्ण्य को "समाज का आदर्श प्रारूप" मान सकता है। वर्ण व्यवस्था की यह आलोचना कम से कम अम्बेडकर के संदर्भ में स्वाभाविक है। केवल जाति के जन्म के संदर्भ में वर्ण व्यवस्था की उनकी प्रशंसा अस्वाभाविक प्रतीत होती है।

17.3.2 अस्पृश्यता का आरम्भ–धार्मिक संघर्ष की परिणति

जाति व्यवस्था के जन्म का विश्लेषण करने के लिए डा0 अम्बेडकर ने इतिहास की गहराइयों में

छानबीन किया था। ऐसा ही उद्यम उन्होंने अस्पृश्यता के संदर्भ में भी किया है, यद्यपि इस बार भी अगर वह चाहते तो किसी प्रचलित मान्यता को स्वीकार करके इस जटिल विषय से बच सकते थे। ऐसा भी नहीं था कि ऐसा करने पर उनके राजनैतिक मिशन में कोई बाधा पहुंचती। वे अर्थशास्त्र और विधि जैसे आधुनिक विषयों के विद्वान थे और सार्वजनिक कार्यों में अत्यधिक व्यस्त भी रहते थे। इन सबके बाद भी उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से प्राचीन गूढ़ विद्या के लिए समय निकाला। जाति और उसी प्रकार अस्पृश्यता के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रचलित ही थी कि इनका विकास भारतीय समाज के धुंधले दौर में अचेतन रूप से धीरे-धीरे हुआ। उन्होंने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार वेदों और यहाँ तक कि धर्मशास्त्रों तक में अस्पृश्यता का संदर्भ नहीं है। उन्होंने इन प्रचलित मान्यताओं का भी खंडन किया कि अस्वच्छ कार्य करने से अस्पृश्यों का जन्म हुआ या नस्ली भेद के कारण अस्पृश्यता अस्तित्व में आयी। उनके अनुसार हर समाज में अस्वच्छ कार्य होते हैं और ऐतिहासिक रूप से सभी समाजों में नस्ली मिश्रण भी हुआ है, बल्कि भारत के अस्पृश्य तो सम्भवतः नस्ली तौर पर भी सवर्णों से भिन्न नहीं हैं। डा0 अम्बेडकर ने इस प्रकार अस्पृश्यता के आरम्भ को समझने के लिए अपनी पुस्तक 'हू वेयर अनटचेबुल्स?' में, अपने शब्दों में, "एक पूर्णतः नया सिद्धांत" प्रस्तुत किया है।

जैसा हम कह चुके हैं, डा0 अम्बेडकर मानते कि वेदों, धर्म सूत्रों और स्मृतियों में अस्पृश्यता नहीं है। उनमें कतिपय 'निम्न जातियों' का संदर्भ है। धर्म शास्त्रों में 'चण्डाल' और मनु स्मृति में चंडाल, अंत्य, अंत्यज, अंत्यवासिन् और बाह्य जैसे शब्द आये हैं। अम्बेडकर ने माना है कि इन शब्दों का संदर्भ भिन्न वर्णों में विवाह करने से उत्पन्न संकर जातियों से है। वर्ण और जाति की शुद्धता के विकृत विचार से ग्रस्त तत्कालीन विधिशास्त्रियों ने इन संकर जातियों के सैकड़ों हास्यास्पद वर्ग बना दिये। मनु ने कहा है कि वर्ण चार ही हैं और 'कोई पाँचवा वर्ण नहीं है।' अम्बेडकर के अनुसार चार वर्णों के बाहर लोग तो थे, लेकिन जैसा नारद स्मृति में कहा गया है, इसमें दास थे, अस्पृश्य नहीं। स्मृतियों आदि के अतिरिक्त सन् 400 के आस-पास गुप्त काल में भारत आये चीनी यात्री फाह्यान ने चंडालों का विवरण दिया है, जो सड़क पर लकड़ी बजाते हुए चलते थे, ताकि सभी सवर्ण लोग उनके सम्पर्क से बच जायें। अगर इनसे सम्पर्क हो जाये तो स्नान करके 'शुद्ध' होना पड़ता था। अम्बेडकर चण्डालों के इन विस्तृत और व्यापक विवरणों को अस्पश्यता का नहीं, अपितु अशौच का उदाहरण मानते हैं। इस प्रकार अम्बेडकर के अनुसार सन् 400 तक अस्पृश्यता नहीं थी, लेकिन उसके बाद भारत आये एक अन्य चीनी यात्री ह्वेनश्वांग ने चंडालों के अतिरिक्त 'अन्य समुदायों' का संदर्भ दिया है। अम्बेडकर मानते हैं कि अन्य समुदायों से अस्पृश्यों का आशय भी आता है। इस आधार पर उनका मानना है कि अस्पृश्यता का आरम्भ सन् 400 के आस-पास हुआ और सन् 600 तक यह प्रथा अत्यधिक प्रबल हो गयी।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के बाद अम्बेडकर यह जानने का प्रयास करते हैं कि सन् 400–600 के बीच ऐसा क्या हुआ, जिससे अस्पृश्यता का आरम्भ हो गया। उनके अनुसार इस दौर में बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मणवाद का प्रबल प्रतिक्रियात्मक प्रहार हो रहा था, जिसमें ब्राह्मणवाद देश के भीतर निर्णायक रूप से विजयी हुआ। मुख्यधारा के सभी वर्णों, जातियों के लोगों ने ब्राह्मणवादी व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। समस्या उनके साथ हुई जो मुख्यधारा के बाहर और भौतिक रूप से भी गाँव के बाहर रहते थे। अम्बेडकर के अनुसार ये व्यक्ति ('ब्रोकेन मैन'-खंडित मानव) प्राचीन काल से ही गाँव के बाहर रहते थे। इतिहास में कृषि के विकास के साथ एक वर्ग स्थायी बस्तियों में रहने लगा, जबकि धुमन्तू लोग इन गांवों के बाहर रहने लगें। गाँव के लोग बाहर रहने वाले इन खंडित मानवों को अन्न आदि देते थे और बदले में आक्रामक कबीलों से सुरक्षा प्राप्त करते थे।

कालांतर में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा और फिर उसकी प्रतिक्रिया में ब्राह्मणवाद ने एक 'रणनीति' बनाई। बौद्ध धर्म ने वैदिक यज्ञों आदि में होने वाली अनावश्यक और अतिरेकी हिंसा का विरोध किया था, लेकिन उसमें माँसाहार का निषेध नहीं था। ब्राह्मणों ने चालाकी से मांसाहार का और विशेषतः गौवंश की हत्या का विरोध शुरु कर दिया। गौवंश परम पवित्र बना दिया गया। मुख्यधारा के समाज ने इन निषेधों को स्वीकार कर लिया, जिसके पीछे एक कारण यह भी था कि गौवंश कृषि के लिए अत्यधिक उपयोगी बनता जा रहा था। गांव से बाहर रहने वाले 'खंडित मानवों' को इस निषेध से समस्या हुई। उनकी अर्थ व्यवस्ता अनुत्पादक थी। प्रायः वे गाँव से मरे जीवों को बाहर लाते थे और उनकी खाल, हड्डियों वगैरह का प्रसंस्करण करते थे और मांस का उपयोग खाने में करते थे। इस तरह, मुख्यतः निर्धनता के ही कारण वे गोवंश-समेत अन्य मृत जीवों को खाते रहे। चूँकि ग्रामवासियों को इससे गांव की सफाई में सहायता मिलती थी, इसलिए उन्हें इस पर आपत्ति नहीं थी, लेकिन गोवंश-भक्षण के कारण ये खंडित मानव अस्पृश्य बन गये।

अस्पृश्यता के आरम्भ की यह व्याख्या निसंदेह नयी है, जैसा डा0 अम्बेडकर ने दावा किया था। इस सिद्धान्त में अनुमानों को उपयोग अधिक किया गया है और उन्हें प्रमाणों का विकल्प बना दिया गया है। अस्पृश्यता के प्रमाण पहले से मिलते हैं, लेकिन वे उनको वहाँ से ही स्वीकार करते हैं, जहाँ से स्वीकार करने पर बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष को बल मिलने लगे। ऐसा इसलिए भी लगता है, क्योंकि 1948 में इस सिद्धांत के प्रतिपादन के बाद 1956 में उन्होंने अपनी पुस्तक 'बुद्धा एंड हिज धम्म' में आज से 2500 वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध को अस्पृश्यों को अपने संघ में भिक्षुक बनाते हुए दिखाया है। डा0 अम्बेड्कर ने सोपक और सुप्पिय नाम के इन दो व्यक्तियों को शीर्षक में ही 'दि अनटचेबुल्स' लिखा है। एक तरफ तो वे अस्पृश्यता को सन् 400–500 के आस-पास शुरू हुआ मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार अस्पृश्यता का आरम्भ ब्राह्मण-बौद्ध संघर्ष से हुआ और दूसरी ओर वे अस्पृश्यता को उसके भी एक हजार साल पीछे उपस्थित पाते हैं, क्योंकि इस परिस्थिति में वे भगवान बुद्ध को अस्पृश्यों के मुक्तिदाता के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं।

17.3.3 जातिवादी समानता के संघर्ष में डा0 अम्बेडकर

डा0 अम्बेडकर का पूरा जीवन ही सामाजिक समानता के संघर्ष की वीर गाथा है। इसी कारण भयंकर विपन्नता में भी उन्होंने सरकारी सेवा स्वीकार नहीं किया। 1923 तक उन्होंने उच्च शिक्षा के लिए भी इसी उद्देश्य से अपना समय समर्पित किया। इस प्रकार वे अपने मिशन के लिये वैचारिक और व्यवहारिक–दोनों स्तरों पर लम्बी लड़ाई लड़ सके। हम यहां उनके कुछ व्यवहारिक योगदानों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। ब्रिटिश शासन ने औपचारिक स्तर पर सभी भारतीयों को समान अधिकार दिये थे। इनमें राजनैतिक अधिकार तो उतने उपयोगी नहीं थे, क्योंकि औपनिवेशिक शासन में जनतंत्र की जगह नहीं होती, लेकिन नागरिक अधिकारों और सामाजिक अधिकारों का महत्व था। इनमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण नागरिक अधिकार थे, क्योंकि राज्य से इनके अनुपालन को सुनिश्चित करवाने की आशा की जा सकती थी। डा0 अम्बेडकर ने इन आंदोलनों को 'प्रत्यक्ष कारवाई' (डाइरेक्ट एक्शन) की संज्ञा दिया है, जो वैसे तो स्वतः स्फूर्त ढंग से पहले से ही चल रहे थे, लेकिन 1920 के दशक से बहुत ही प्रभावशाली हो गये। इन आंदोलनों में प्रतीकात्मकता और नाटकीयता थी, जिससे दलित वर्ग में आत्म सम्मान की भावना प्रबल हुई। धार्मिक स्थलों में प्रवेश की मांग हिंदू धर्म के भीतर रहकर की गयी थी, जिसे हम 'संस्कृतिकरण' का दलित प्रारूप मान सकते हैं। धीरे-धीरे डा0 अम्बेडकर ने इस प्रारूप को अप्रासंगिक मान लिया और 1930 के बाद दलितों की राजनैतिक लड़ाई पर ज्यादा जोर देना शुरू किया। 1935 के बाद तो यह संघर्ष हिंदुत्व की सीमा के भी बाहर चला गया। डा0

अम्बेडकर के एक अन्य निष्कर्ष के महत्व को अपेक्षाकृत अनदेखा कर दिया गया। उनका मानना था कि मंदिर और तालाब के प्रश्न से कहीं अधिक आधारभूत प्रश्न यह है कि हिंदू समाज व्यवस्था को किस तरह तोड़ा जाये। इसका उपाय केवल यही है कि दलित लोग तथाकथित अस्वच्छ कार्यों को छोड़ दें। इससे दलितों का आत्माभिमान तो प्रबल होगा ही, उससे भी बढ़कर उपलब्धि यह होगी कि यह समाज व्यवस्था चरमरा जायेगी। इसीलिए वे बार-बार दलितों से कहते थे कि मृत पशुओं से जुड़े सारे काम छोड़ दो और उसके कारण जहाँ तक आर्थिक संकट झेलने की बात है, "कोई सच्चरित्र महिला अपना पेट भरने के लिए अपना शरीर बेचने की बात सोच भी नहीं सकती।"

दलित आंदोलन के प्रत्यक्ष कारवाई वाले प्रारूप का प्रारम्भ 1924 के त्रावणकोर रियासत के बैकोम मंदिर के आंदोलन से माना जाता है। अम्बेडकर का सीधा जुड़ाव 1925 के विदर्भ के अमरावती के अम्बा देवी मंदिर में प्रवेश की मांग को लेकर शुरू हुए आंदोलन से हुआ, जिसके संदर्भ में उन्होंने 1927 में अमरावती में विशाल जनसभा को सम्बोधित किया। बम्बई के मुम्बा देवी मंदिर के लिये 1928 में निकाले गये विशाल जुलूस का नेतृत्व भी डा0 अम्बेडकर ने किया। इसी तरह के आंदोलन रत्नागिरि, पूना और सतारा में भी हुए। रत्नागिरि (कोंकण) डा0 अम्बेडकर का पैतृक जनपद था और सतारा से भी जुड़ाव रहा था। आंदोलनों के इस अटूट क्रम में कोलाबा के महाड कस्बे में स्थित चौदार सरोवर (1927) और नासिक के कालाराम मंदिर (1930) के आंदोलनों का अधिक महत्व है, क्योंकि ये दोनों आंदोलन लम्बे चले। चौदार का अर्थ मीठा पानी होता है। इस सरोवर के उपयोग को लेकर वहाँ डा0 अम्बेडकर ने मार्च 1927 में दो दिन का एक सम्मेलन आयोजित किया। सम्मेलन स्थल का नामकरण स्थानीय ग्राम देवता वीरेश्वर के ऊपर किया गया था। मांग भी कि 1923 के अधिनियम के अनुसार इस सार्वजनिक सरोवर का पानी दलितों को भी उपलब्ध हो। इस पानी का प्रयोग गैर हिंदू भी करते थे। सवर्णों ने बाद में इसे हिंदुओं की निजी सम्पत्ति घोषित करके न्यायालय से स्थगनादेश प्राप्त कर लिया। बम्बई उच्च न्यायालय में इस बात पर मुकदमा चला कि क्या अस्पृश्यता आदिकाल से प्रचलित है। सवर्ण न्यायालय में यह सिद्ध नहीं कर सके, इसलिए दलित पक्ष की विजय हुई। डा0 अम्बेडकर को फिर भी इस बात का दुख रहा कि न्यायालय ने अस्पृश्यता की अवैधता पर विचार नहीं किया। डा0 अम्बेडकर के नेतृत्व में दूसरा बड़ा आंदोलन 1930 में नासिक में चला। यहाँ के मंदिर में राम की प्रतिमा काली है, इसलिए इसे कालाराम मंदिर कहते हैं। इस मंदिर में रामनवमी के दिन प्रतिमा की रथ-यात्रा को खींचना बहुत पुण्यदायी माना जाता है। वैसे भी नासिक तीर्थ है और वहाँ की गोदावरी में स्नान भी फलदायी माना जाता है। इस आंदोलन के कारण एक अनौपचारिक समझौता हुआ था कि रामनवमी के दिन दलितों को भी रथ खींचने का अवसर मिलेगा। समय आने पर सवर्णों ने दलितों पर आक्रमण कर दिया और इस प्रकार उन्हें रथ यात्रा से बाहर कर दिया। यह आंदोलन भी उन्नतः वैधानिक तरीके से ही दलितों के पक्ष में गया। यह आंदोलन पांच वर्ष के संघर्ष से 1935 में सफल हुआ।

कुछ अजीब संयोग रहा कि महाड और नासिक की इन दो बड़ी प्रत्यक्ष कारवाइयों में भी डा0 अम्बेडकर को अन्ततः विजय वैधानिक माध्यम से मिली। हम जानते हैं कि दलितों के अधिकार जैसे आधारभूत सामाजिक संरचना को बदलने वाले मामले पर भी डा0 अम्बेडकर, जहाँ तक सम्भव हो, शांतिपूर्ण संवैधानिक उपायों के ही पक्ष में थे। साइमन आयोग, लोथियन समिति और साउथबरो समिति जैसी समितियों और 1927 से 1939 तक के बम्बई विधानसभा में अपनी सदस्यता के दौरान उन्होंने अपनी विलक्षण वैधानिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया, जिसका संदर्भ हम ले चुके हैं। संविधान सभा और राज्य सभा की सदस्यता की अवधि में भी उन्होंने इसी क्रम को जारी रखा। यहाँ इस गोलमेज सम्मेलनों में उनके संघर्ष की चर्चा करेंगे, जिसे हम औपचारिक रूप से सितम्बर 1932 के पूना

समझौते से समाप्त हुआ मान सकते हैं, यद्यपि उन्होंने संविधान सभा की सदस्यता से थोड़ा पहले 'स्टेट एंड माइनारिटीज' में प्रस्तुत अपनी मांगों में पृथक् मतदाता मंडल की मांग को नहीं छोड़ा था।

डा0 अम्बेडकर पहले गोलमेज सम्मेलन (नवम्बर 1930) में आमंत्रित 89 भारतीयों में से एक थे। उनके साथ रायबहादुर श्रीनिवासन् भी दलितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वैसे तो सहभागियों में उदारवादी नेता, साम्प्रदायिक दलों और रियासतों के प्रतिनिधि और भारतीय इसाइयों के प्रतिनिधि भी थे, लेकिन स्पष्ट था कि आने वाले दिनों में इनमें से केवल मुस्लिम और दलित प्रतिनिधियों की बातों का ही महत्त्व रहेगा। डा0 अम्बेडकर ने दलितों को हिंदुओं मुस्लिमों और अंग्रेजों–तीनों से अलग करके स्वतंत्र स्थिति में रखा। उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत में दलित कुल जनसंख्या के 20% हैं अर्थात् अकेले ही इंग्लैंड या फ्रांस के बराबर हैं। सितम्बर 1931 के दूसरे सम्मेलन में विवाद गहरा गया, क्योंकि इस बार गाँधी जी के रूप में अम्बेडकर को भावी भारत की वास्तविक सत्ता से तीखा संघर्ष करना पड़ा। अम्बेडकर ने बहुत विस्तार से लिखा है कि गाँधी गुप्त रूप से मुस्लिम लीग से यह वार्ता कर रहे थे कि अगर मुस्लिम लीग दलितों के हिस्से पर जोर न दे तो वे मुस्लिम लीग की सभी मांग मान सकते हैं। गांधी और मुस्लिम लीग की वार्ता पर अम्बेडकर का वक्तव्य था कि इन दोनों में से किसी को दलित हिस्से की सौदेबाजी का अधिकार नहीं है। इस विवाह के बाद घोषित साम्प्रदायिक पंचाट की धारा नौ में दलितों को सामान्य स्थानों के अतिरिक्त पृथक् मतदाता के तौर पर दलित प्रत्याशियों को भी वोट देने का अधिकार मिल गया था। इस पंचाट से पूरे भारत में उत्तेजना फैल गयी और इसके विरोध में गांधी ने सितम्बर 1932 में पूना के यरवदा जेल में आमरण अनशन शुरु कर दिया। अंततः 24 सितम्बर को डा0 अम्बेडकर ने किंचित अनिच्छापूर्वक पूना समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। इस समझौते से दलितों की आरक्षित सीटें तो दुगुनी हो गयीं, लेकिन उनका पृथक् मतदाता मंडल समाप्त हो गया। यह भी सच है कि इस समझौते से डा0 अम्बेडकर ने स्वयं सीधे चुनाव से जीत सकने की सम्भावनाओं को समाप्त सा कर दिया, जिसका प्रमाण आगे चुनावों में मिला। फिर भी डा0 अम्बेडकर का सम्मान बहुत बढ़ा और एक प्रकार से वे गाँधी के समकक्ष हो गये। हम कह सकते हैं कि पूना समझौता से दलितों के अधिकार की लड़ाई तो अवश्य ही अधूरी रह गयी लेकिन दलितों के सम्मान की लड़ाई को शानदार सफलता मिली। मदन मोहन मालवीय और डा0 राजेन्द्र प्रसाद जैसे सनातनी हिंदुओं ने भी दलितोत्थान के प्रति हिंदू समाज की प्रतिबद्धता को स्वीकार किया। कई प्रांतीय सरकारों ने समानतावादी कानून बनाये और उन्हें दृढ़ता से लागू किया। एक तरह से पूरे देश में ही अस्पृश्यता के ऐतिहासिक पाप के प्रायश्चित करने की भावना एक लहर की तरह फैल गयी। इसी सिलसिले में अस्पृश्यता निवारण संघ का भी गठन किया गया, जिसका नाम बाद में बदलकर हरिजन सेवा संघ कर दिया गया।

17.3.4 जातिवादी असमानता का आत्मघाती असर

डा0 अम्बेडकर ने भारतीय समाज पर जातिवाद के दुष्प्रभाव का विशद विश्लेषण किया है। इस संदर्भ में उन्होंने लार्ड एक्टन को उद्धृत किया है कि सभी समाजों में समय के साथ असमानता भी बढ़ी है, लेकिन इस असमानता को शायद ही कभी दार्शनिक औचित्य प्रदान किया गया हो। भारतीय समाज इसका अपवाद रहा है। अम्बेडकर ने लिखा है कि अन्य समाजों में श्रम का विभाजन किया गया, जबकि भारत में जाति प्रथा से "श्रमिकों का विभाजन" भी कर दिया गया है। ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन, यज्ञ कर्म और दान को अपना विशेषाधिकार बना लिया। धार्मिक कार्यों में ही नहीं, राजनैतिक, नागरिक और सामाजिक कार्यों में भी वंशानुगत विशेषाधिकार स्थापित हो गये। सोलह धार्मिक संस्कार, मंत्र पाठ और पौरोहित्य तो दूर की बात है, सहभोज तक को प्रतिबंधित कर दिया गया।

डा0 अम्बेडकर ने लिखा है..."जाति ने जनमत के निर्माण को असम्भव बना दिया है। एक हिंदू के लिये जनमत का अर्थ जातिमत ही होता है। उसका दायित्व केवल अपने जाति तक सीमित है। उसकी निष्ठा अपनी जाति तक सीमित है। सद्गुण जातिबद्ध है, नैतिकता जातिबद्ध है। योग्य के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। प्रतिभाशाली के लिए सराहना का कोई भाव नहीं है।" जाति प्रथा ने समाज को क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर–दोनों रूपों में बांट दिया है और उनके बीच की दूरी को केवल परम्परा से ही नहीं, बल्कि धार्मिक मान्यता देकर पत्थर की लकीर बना दिया है। जातियों के बीच की अभेद्य और अलंघ्य दूरी केवल कार्य की नहीं, बल्कि सम्मान और शासनाधिकार की दूरी भी है। इस कारण से श्रमिकों के कार्य की उत्पादकता और गुणवत्ता भी घटी है, क्योंकि जातिवादी पदक्रम में नीचे पड़ने वाले श्रमिक अपना भूत और वर्तमान ही नहीं, बल्कि अपने और अपनी संतान के भविष्य को भी अंधकारग्रस्त पाते हैं। यहाँ डा0 अम्बेडकर अर्थशास्त्र के मानवीय आयामों को उद्घाटित करते हुए मार्क्स के अलगाव (एलीनेशन) के सिद्धांत के निकट पहुँच जाते हैं।

जैसा हमने देखा है, डा0 अम्बेडकर मानते थे कि वैदिक काल में जाति प्रथा नहीं थी और अस्पृश्यता तो बहुत बाद में प्रचलन में आयी। वेद के पुरुष सूक्त में चातुर्वर्ण्य की चर्चा हुई है, लेकिन अधिकांश विद्वान इसे क्षेपक मानते हैं। डा0 अम्बेडकर का भी यही विचार है। परवर्ती समय में मनु, कात्यायन, नारद और गौतम जैसे स्मृतिकारों ने तत्कालीन समाज के शोषक स्वरूप को धार्मिक औचित्य देकर स्थायी बनाने का प्रयास किया। इस व्यवस्था में ब्राह्मण श्रेष्ठतम है और "चूँकि वह धार्मिक कार्यों में व्यस्त हैं, इसलिए राज्य कार्य उसका छोटा भाई राजन्य (क्षत्रिय) कर रहा है।" मनु ने शूद्रों के लिये "न्यूनतम वेतन का नहीं, बल्कि अधिकतम वेतन का निर्धारण किया है" और यह व्यवस्था दी है कि इससे अधिक होने पर शूद्र का धन छीन लिया जाये। अम्बेडकर कहते हैं कि यह सिर्फ संयोग नहीं है कि फासीवादी दर्शन के जन्मदाता फ्रेडरिख नीत्से ने मनु की व्यवस्था की प्रशंसा करते हुए ब्राह्मण को एक प्रकार से अपने अतिमानव के समकक्ष माना था। जाति व्यवस्था ने इस प्रकार कुछ को अतिमानव बनाया और शेष बहुसंख्यक समाज को अमानव बना दिया।

डा0 अम्बेडकर मानते हैं कि जाति व्यवस्था ने हिंदुओं की धारमिक अस्मिता को समाप्त सा कर दिया है। हिंदुत्व किसी धार्मिक या दार्शनिक व्यवस्था का प्रतिपादक नहीं है, इसलिए ऐसी कोई मौलिक मान्यता भी नहीं है, जिसके उल्लंघन पर किसी को हिंदू धर्म से बहिष्कृत किया जा सके। हाँ, जाति नियमों को न मानने पर उल्लंघनकर्त्ता को जाति से बाहर कर दिया जाता है। इसके प्रमाण बहुत मिलते हैं और यह अत्यधिक प्रभावी भी है। डा0 अम्बेडकर किंचित दुख के साथ कहते हैं कि बहुसंख्यक समाज के इस आत्मघाती आंतरिक विभाजन से देश सदैव से कमजोर रहा है और विदेशी आक्रमणों का आसान शिकार रहा है। जातिवाद के कारण एक तो सामाजिक समरसता नहीं रही, जिससे अधिसंख्य देशवासी देश से अपनत्व का अनुभव नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त देश की रक्षा का काम एक जाति-विशेष पर छोड़ दिया गया, जो संख्या में कम थे और शायद उतने सक्षम भी नहीं थे। डा0 अम्बेडकर ने लगातार पराजित होते रहने के राष्ट्रीय दुर्भाग्य के पीछे जातिवाद को ही जिम्मेदार माना है और बहुत मार्मिक शब्दों में संविधान सभा में कहा था कि हमें अपनी राष्ट्रीय आजादी को अब दूसरी बार खोना नहीं चाहिए।

17.3.5 जातिवाद का उन्मूलन

डॉ0 अम्बेडकर ने जातिवाद के दुष्प्रभावों की विस्तृत चर्चा किया है। इसके बाद उसके उन्मूलन पर उनके विचारों की चर्चा करना उचित होगा। वैसे तो इस विषय में उन्होंने अलग-अलग बहुत लिखा है लेकिन 1936 की उनकी पुस्तक 'एन्हीलेशन आफ कास्ट्स' ठीक इसी विषय पर ही लिखी गयी है।

यह लेख उन्होंने पंजाब के जात पात तोड़क मंडल के अध्यक्षीय भाषण के तौर पर लिखा था, लेकिन आयोजकों से विवाद के कारण वे यह भाषण सम्मेलन में पढ़ नहीं सके। उनका मानना था कि जाति उन्मूलन लगभग असम्भव है। इसका कारण यह है कि जाति व्यवस्था को धार्मिक मान्यता प्राप्त है और धार्मिक भावनायें अतार्किक होती हैं। इसके अतिरिक्त ये भावनाएँ अवचेन तक में घुस गयी हैं। इस आधार पर कई बार वे कहते हैं कि जाति को मिटाने के लिए हिंदू धर्म को ही मिटाना पड़ेगा। यह निष्कर्ष कुछ विरोधाभासी इसलिए लगता है क्योंकि स्वयं अम्बेडकर ने सिद्ध किया है कि वेदों और उसके काफी बाद तक भारत में जाति प्रथा नहीं थी और जो वर्ण व्यवस्था थी, उसकी प्रशंसा अम्बेडकर ने ही किया है जात-पांत तोड़क मंडल के आयोजको से उनका मुख्य विवाद इसी विषय पर हुआ।

जातिवाद के उन्मूलन में आने वाली दो अतिरिक्त कठिनाइयों को भी उन्होने विमर्श का विषय बनाया है। एक कठिनाई यह है कि ब्राहमण इसके पक्ष में नहीं है। चूंकि "यह दुर्भाग्यपूर्ण सच्चाई है कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग सामान्य रूप से ब्राह्मण जाति का ही पर्यायवाची है" और "लौकिक ब्राह्मणों तथा कर्मकांडिक ब्राह्मणों में सारतः कोई अंतर नहीं है," इसलिये जाति उन्मूलन आंदोलन वैचारिक दृष्टि से सदैव बहुत निर्बल रहेगा। दूसरी समस्या यह है कि जातिवाद ने यहाँ तक कि निचली जातियों को भी आपस में ही इतना विभाजित कर दिया है कि वे जातिवाद के विरुद्ध कोई साझा मोर्चा नहीं बना सकते। उनके अनुसार यह समस्या मुस्लिमों में भी है लेकिन उनका धर्म "सशक्त एकतापरक बल" है, इसलिए उनके यहाँ यह समस्या कम है। डा0अम्बेडकर का दृष्टिकोण इस संदर्भ में अनावश्यक रूप से नकारात्मक और निराशावादी लगता है, क्योंकि स्वयं उनके कई बड़े आंदोलन ब्राह्मणों को सहयोग के बिना भी सफल रहे थे। जहाँ तक अन्य जातियों की बात है, जाति तोड़ने के लिए न सही, कम से कम ब्राह्मणों के वर्चस्व को तोड़ने के लिये ऐसे कई साझा मोर्चे स्वयं अम्बेडकर के समय बने थे और सफल भी हुए थे। स्वयं अम्बेडकर ने ऐसे साझा मोर्चों का विश्लेषण किया है।

डा0 अम्बेडकर ने कई बार यह माना है कि जातिवाद समाप्त हो भी सकता है। इस दृष्टिकोण में भी वे दो सीमाएँ स्वीकार करते हैं। एक तो यह है कि व्यक्तिगत स्तर पर जातिवाद का उन्मूलन असम्भव है। इस बात पर उन्होंने अस्पृश्यता निवारण संघ से विवाद किया था। गांधीवादी उपाय पर उनकी एक आपत्ति और आशंका यह भी थी कि ऐसा शांतिपूर्ण तरीके से सम्भव नहीं है...."मेरा निश्चित विश्वास है कि सवर्ण हिंदुओं के अज्ञानी समुदाय में तर्कपूर्ण विचारों के मौन प्रचार-प्रसार से दलितों की मुक्ति सम्भव हो सकती है।....न्यूनतम प्रतिरोध और तर्क पूर्ण विचारों के मौन प्रचार-प्रसार की इस नीति की एक बड़ी बुराई यह है कि, चूंकि इनसे संकट पैदा नहीं होता, इसलिए इनसे कोई 'विवश' भी नहीं होता।" 1932 में उन्होंने अस्पृश्यता निवारण संघ के मंत्री अमृतलाल ठक्कर को लिखा था कि दलितोत्थान के गम्भीर प्रयास में हिंसा अवश्य होगी, उसको टाला नहीं जा सकता...."दलितों और सवर्णों के बीच दंगे होंगे, जिसमें सिर भी फूटेंगे....इस कार्यक्रम में सामाजिक अराजकता और यहाँ तक कि रक्तपात भी होगा....आपको सीधी कारवाई के द्वारा एक संकट को जन्म देना पड़ेगा।" इसी तरह से उन्होंने अन्यत्र लिखा है...."दलितों को मुक्ति उस समय मिलेगी, जब सवर्ण यह सोचने और महसूस करने के लिये बाध्य हो जायें कि उनको अब बदलना ही है।"

जातिवाद के उन्मूलन पर डा0 अम्बेडकर ने हिंदू धर्म के सुधार का भी एक वैकल्पिक कार्यक्रम दिया है। इसके मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं-(1) "हिंदू धर्म की एक और केवल एक मानक पुस्तक हो जो सभी हिंदुओं को मान्य और स्वीकार्य हो।" (2) "अच्छा हो कि हिंदुओं में पुजारी वर्ग समाप्त कर दिया जाये...कम से कम इसे वंशानुगत तो न रहने दिया जाये"। (3) पुजारी की परीक्षा हो और सनद

प्राप्त न करने पर भी पौरोहित्य करने वाले व्यक्ति को दंडित किया जाये। (4) "पुजारी शासकीय कर्मचारी हो" और (5) "पुजारियों की संख्या को कानून द्वारा सीमित किया जाये।"

17.4 धर्म का महत्व और बौद्ध धर्म की विशेषताएँ

डा0 अम्बेडकर का पालन-पोषण धार्मिक परिवेश में हुआ और 1935 तक वे सारी शिकायतों के बाद भी हिंदू धर्म के भीतर रहकर काम करना चाहते थे। उसके बाद भी वे इस मान्यता से कभी नहीं डिगे कि धर्म के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति अर्थहीन हो जाएगा...."मेरे जीवन में जो कुछ भी श्रेष्ठ है और मेरी शिक्षा का जो थोड़ा बहुत लाभ समाज को मिला है, उन सबके पीछे मेरी धार्मिक भावना ही है।....नौजवानों को धर्म से तटस्थ होते देखकर मुझे पीड़ा होती है।" अम्बेडकर का मानना था कि "धर्म भाषा की भाँति ही सामाजिक है, क्योंकि दोनों सामाजिक जीवन के लिये जरूरी हैं और व्यक्ति को दोनों की आवश्यकता है ताकि वह सामाजिक जीवन में सहभागिता ले सके।" इसी तरह वे धर्म को एक साधन मानते हैं, "जिसके द्वारा समाज व्यक्ति के आचरण को नियंत्रित करता है।"

धर्म की आवश्यकता बताने के बाद अम्बेडकर आदर्श धर्म की खोज करते हैं। वे इस मामले में अपने गुरु जान डेवी का समर्थन करते हैं, जिनका मानना था कि धर्म अन्ततः सामाजिक संगठन का यंत्र है। इस करणवादी (इन्स्ट्रूमेण्ट लिस्ट) विचार के अनुसार धर्म मनुष्य और ईश्वर के बीच का नहीं, बल्कि मनुष्य और मनुष्य के बीच का विश्वास है। वे यहां तक कि ईश्वर के अस्तित्व या उसकी आवश्यकता पर भी संदेह करते हैं। उनका मानना है कि अधिकतर धर्मों ने सिद्धांतों पर नहीं, बल्कि "नियमों और विधियों" पर जोर दिया है। विधि और नियम तो मात्र यह बताते हैं कि क्या करना है, "जैसे पकवान बनाने की पुस्तिका मात्र यह बताती है कि क्या करना है और कैसे करना है", जबकि सिद्धांत हमको मान्यताओं के उत्कृष्ट या निकृष्ट होने का नैतिक मानदंड बताते हैं। उनके अनुसार कर्म के केंद्र में ईश्वर नहीं, बल्कि नैतिकता है...."नैतिकता का जन्म इस आवश्यकता से होता है कि मनुष्य मनुष्य से प्यार करे। इसके लिए किसी ईश्वर के आज्ञा की आवश्यकता नहीं है। भगवान को प्रसन्न करने के लिए नैतिक होने का औचित्य नहीं है।" अम्बेडकर ने आदर्श धर्म के निम्न गुण बताये हैं–(1) उसे विज्ञान के अनुकूल होना चाहिए, (2) उसे स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावना के अनुकूल होना चाहिए, और (3) इसे दरिद्रता को महिमा मंडित नहीं करना चाहिए और अंध विश्वास, पाखंड, रहस्यवाद, अज्ञानता और जुनून को बढ़ावा नहीं देना चाहिए।

अम्बेडकर ने हिंदू धर्म को अपने आदर्श धर्म की कसौटी पर कसा और उसे अयोग्य पाया। उनके अनुसार हिंदू धर्म में पहले तो जाति प्रथा और अस्पृश्यता नहीं थी और उसमें मिशनरी भाव भी था। इसके अतिरिक्त वे अद्वैतवाद को भी आदर्श मानते हैं, लेकिन व्यवहार में इसकी उपेक्षा हुई है...."यदि समस्त सृष्टि में ब्रह्म व्याप्त हैं तो ब्राह्मण और अस्पृश्य समान हैं। लेकिन लोग इस सिद्धांत को सामाजिक संगठन के स्तर पर लागू नहीं करते और वेदान्तिक स्तर तक ही सीमित कर देते हैं।" उन्होंने विशेषतः मायावाद और कर्मवाद की आलोचना किया है। उनके अनुसार मायावाद से निष्क्रियता आती है और कर्मवाद के कारण मनुष्य अपने साथ हो रहे अन्याय का प्रतिकार करने का प्रयास नहीं कर पाता...."इस सिद्धांत के आविष्कार के पीछे क्या कारण हो सकते हैं? केवल एक कारण ही समझ में आता है कि इससे राज्य और समाज को निर्धनों और निम्न श्रेणी के लोगों के दायित्व से मुक्ति मिल गयी।" इसके अतिरिक्त जातिवाद के कारण "हिंदुत्व और सामाजिक एकता विरोधी हो गये हैं। हिंदुत्व की सोच सामाजिक अलगाव पर विश्वास करती है, जो सामाजिक बिखराव का ही पर्याय है और यह सोच यहाँ तक कि सामाजिक अलगाव को पैदा करती है।" उन्होंने लिखा है कि

धर्म-परिवरतन से कोई लाभ नहीं है...''धर्म परिवर्तन से धर्मान्तरित अस्पृश्यों की सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। आम हिंदुओं के लिए भले ही वे इसाई हो गये हों, वे अस्पृश्य ही रहेंगे।'' उन्होंने लिखा है कि सभी वर्णों के लोगों ने इसाई धर्म स्वीकार किया, लेकिन इस धर्म में भी उनके बीच वही दूरी बनी रही। अमेरिका के दलित अश्वेतों को मुक्ति इसाइयत से नहीं, बल्कि गृह युद्ध से मिली। इन मान्यताओं के होते हुए भी उन्होंने 1956 में बौद्ध धर्म स्वीकार किया। यह माना जा सकता है कि इसके पीछे उनका सर्वथा उचित संचित आक्रोश था।

डा0 अम्बेडकर ने 13 अक्टूबर 1935 को येवला (महाराष्ट्र) में धर्म परिवर्तन की घोषणा किया था और अगले वर्ष उन्होंने बम्बई में महारों का सम्मेलन भी इसी उद्देश्य से बुलाया। अधिकतर महारों ने ही धर्म-परिवर्तन किया, जिन्हें नव-बौद्ध कहते हैं। बीस वर्ष बाद कहीं जाकर उन्होंने नागपुर में 14 अक्टूबर 1956 को बौद्ध धर्म स्वीकार किया। उस वक्तव्य में भी उन्होंने कहा था कि उन्होंने भारतीय धर्म को ही बहुत विचार करके अपनाया है और भगवान बुद्ध को उनकी भूमि पर वापस लाने का प्रयास किया है। उनकी इस उदात्त भावना की सराहना होनी चाहिए, लेकिन धर्मांतरण शब्द इस काम के लिये काफी कठोर लगता है–वस्तुतः वे भारतीय मनीषा की और गहराई में चले गये। सावरकर ने सही कहा था कि अम्बेडकर ने 'लम्बी छलांग' की घोषणा किया था, जबकि उन्होंने 'ऊँची छलांग' लगाई है।

डा0 अम्बेडकर भगवान बुद्ध से बचपन से ही प्रभावित थे। युवावस्था में यह भावना और प्रबल हुई। हम देख चुके हैं कि उन्होंने अस्पृश्यों को बौद्ध मतानुयायी सिद्ध किया था। उन्होंने बम्बई में सिद्धार्थ कालेज और औरंगाबाद में अजंता-एलोरा की बौद्ध गुफाओं के पास बौद्ध राजा मिलिंद (मिनेंडर) के नाम पर विद्यालय की स्थापना करवाया। उसके पास के उद्यान का नामकरण उन्होंने मिलिंद के बौद्ध गुरु नागसेन पर किया था। उन्होंने संविधान सभा में पालि भाषा के लिये सफलतापूर्वक प्रयास किया। उनके प्रयास से ही राष्ट्रीय ध्वज पर धर्म चक्र और मुद्रा पर अशोक स्तम्भ का सिंह वाला शीर्ष भाग अंकित हुआ है। राष्ट्रपति भवन में भी इसी क्रम में बुद्ध का प्रथम उपदेश 'धर्म चक्र प्रवर्तनाय' उत्कीर्ण किया गया है। उनका भावना था कि ''बौद्ध धर्म का उदय और फ्रांस की महाक्रान्ति–दोनों युगान्तकारी घटनाएँ हैं।'' इसके पीछे यह तर्क था कि बौद्ध धर्म ने ही शूद्रों को शासनाधिकार दिलवाया। नालंदा तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय स्थापित किये और गणतान्त्रिक शासन प्रणाली से विश्व को परिचित करवाया। बौद्ध काल में भारतीय साहित्य, दर्शन और कलाओं की अभूतपूर्व प्रगति हुई। उनके अनुसार बौद्ध धर्म के पतन के दो बड़े कारण थे। एक तो उन ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया थी, जो बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण निष्प्रभ और निर्धन हो रहे थे। दूसरा बख्तियार खिलजी जैसे आक्रांताओं ने भयंकर रक्तपात और लूटपाट किया। चूँकि बौद्ध धर्म संघों में संगठित था, इसलिए उसे नष्ट करना सरल था। बख्तियार ने नालंदा विश्वविद्यालय को जला दिया जहां लगभग दो लाख पुस्तकें थीं। अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म के प्रामाणिक परिचय के लिये 1951 से ही 'बुद्ध एंड हिज धम्म' नाम से एक महाग्रन्थ लिखना शुरू कर दिया था, जो उनकी मृत्यु तक चलता रहा। उन्होंने महाराष्ट्र के ठाणे के पास सोपारा में अशोक के एक शिलालेख का कई बार जाकर अध्ययन किया और उसके आधार पर मराठी में एक पुस्तक लिखा।

17.5 बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद

भगवान बुद्ध और कार्ल मार्क्स की तुलना बहुत प्रासंगिक प्रतीत नहीं होती। दोनों के बीच लगभग 2500 वर्ष का अंतर है और उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनों के कार्यक्षेत्र बिल्कुल अलग हैं।

स्वयं अम्बेडकर के शब्दों में "दोनों की तुलना को एक मजाक माना जा सकता है।" फिर भी अम्बेडकर ने दोनों की तुलना करते हुए "बुद्धा आर कार्ल मार्क्स?' शीर्षक से एक लेख लिखा है जो काठमांडू में दिये गए उनके व्याख्यान पर आधारित है। नागपुर में दीक्षा लेते समय भी उन्होंने अपने अनुयायिओं को मार्क्सवाद के खतरे से सचेत किया था। काठमांडू के व्याख्यान में भी उन्होंने बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद को अपने सामने खड़ी वैकल्पिक व्यवस्थाएँ माना था..."यदि बौद्ध देशों की युवा पीढ़ी यह समझ सकने में असफल होती है कि बौद्ध जीवन पद्धति साम्यवादी जीवन पद्धति से श्रेष्ठ है, तो बौद्ध धर्म भविष्यहीन हो जाएगा।" इसी तरह उन्होंने आगे लिखा है, "हमें ध्यान रखना चाहिए कि आज एशिया में बहुत लोग और विशेषकर भारी संख्या में नवयुवक कार्ल मार्क्स को पूजा के योग्य एकमात्र मसीहा मानते हैं और वे बौद्ध संघों को प्रायः मात्र एक पीला खतरा मानते हैं। भिक्षुओं को अवश्यमेव इस संकेत को समझना चाहिए और इस तरह सुधार करना चाहिए कि उनकी तुलना कार्ल मार्क्स से हो सके और बौद्ध धर्म प्रतियोगिता कर सके।" हमें याद रखना चाहिए कि वह युग शीत युद्ध का था, जिसमें पश्चिमी संसार एशिया में साम्यवादी चीन और सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव से चिंतित था। मार्क्स के समकक्ष बुद्ध को खड़ा करने के पीछे डा0 अम्बेडकर का मंतव्य भी कुछ न कुछ वैसा ही था। मार्क्सवाद और बौद्ध धर्म के अपेक्षाकृत अनौचित्यपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन के पीछे की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को याद रखना आवश्यक है।

तुलना के प्रारम्भ में अम्बेडकर दोनों मतों की मौलिक मान्यताओं को बिंदुवार प्रस्तुत करते हैं। दोनों के बीच तुलना का एक बिंदु धर्म है। उनका कहना है कि बौद्ध धर्म में ईश्वर नहीं है, बल्कि वह नैतिकता को जीवन का आदर्श ही नहीं, जीवन का नियम बनाता है और इस रूप में बौद्ध धर्म शुद्ध धार्मिक मामलों में भी मार्क्सवाद के अनुकूल है। दार्शनिक मामलों में भी दोनों में विचित्र समानता है। बुद्ध ने आत्मा, अमरत्व विश्व की शाश्वता, मृत्यु के बाद के अस्तित्व जैसे दार्शनिक प्रश्नों पर विचार करने से मना कर दिया था। मार्क्स ने भी कहा है कि "अब तक दार्शनिकों ने दुनिया की बहुविध व्याख्या किया है। प्रश्न उसे बदलने का है।" अम्बेडकर के अनुसार इस प्रकार दोनों मत सर्वथा सांसारिक हैं। बुद्ध का धम्म आचार शास्त्र ही है। इसके बाद अम्बेडकर वर्गों के प्रश्न पर आते हैं। जो मार्क्सवाद का मौलिक मत है। मार्क्सवाद के अनुसार वर्गों का अस्तित्व सदैव रहा है, उनके बीच में आर्थिक आधार पर संघर्ष होता रहा है और निजी सम्पत्ति को समाप्त करके ही वर्ग संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। अम्बेडकर इन प्रश्नों पर 'धम्म' की विवेचना करते हैं। बुद्ध ने वर्गों के अस्तित्व, उनके बीच संघर्ष होते रहने और इस संघर्ष को समाप्त करने की आवश्यकता को स्वीकार किया है। अंतर यह है कि बुद्ध की दृष्टि में ये वर्ग मात्र आर्थिक आधार पर नहीं बने हैं, बल्कि ये विस्तृत हैं–जैसे शासक, अभिजात, पिता-पुत्र, मित्र और गृहस्थ आदि।

भगवान बुद्ध न केवल वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, बल्कि उनके बीच होने वाले संघर्ष की भी व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार यह संघर्ष क्षुद्र इच्छाओं के कारण होता है और इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए आठ उपाय (आष्टांगिक आर्य मार्ग) हैं। अम्बेडकर यहाँ भी बुद्ध और मार्क्स को तत्वतः समान धरातल पर खड़ा पाते हैं...."भाषा भिन्न है, लेकिन आशय वही है। अगर हम दुख के स्थान पर शोषण रख दें तो बुद्ध मार्क्स से दूर नहीं है।" मार्क्स शोषण समाप्त करने के लिये निजी सम्पत्ति को समाप्त करना चाहता है और अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध ने भी यही किया। बुद्ध ने भिक्षुओं के लिये निजी सम्पत्ति वर्जित कर दिया। भिक्षुक केवल आठ वस्तुयें रख सकते थे। स्वयं बुद्ध स्वैच्छिक दरिद्रता का तपस्वी जीवन जीते थे। अम्बेडकर के अनुसार बुद्ध स्वयं भी ऐसा इसलिए करते थे ताकि संघ में धनिकों का प्रवेश न हो। यह अवश्य है कि बुद्ध की ये वर्जनाएं समाज के लिये नहीं थी।

उपरोक्त विश्लेषण से अम्बेडकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मार्क्सवाद और धम्म के लक्ष्य एक हैं। मार्क्सवाद बल पर टिका है। जब बल समाप्त होगा तो उस राज्य को टिके रहने के लिए 'धम्म' की आवश्यकता होगी जो ईश्वर, कर्मकांड, पाखंड और अंधविश्वास आदि से मुक्त है...."हमें 'धम्म' को अन्य धर्मों की तरह नहीं लेना चाहिए। बलहीन होने पर साम्यवाद को जीवित रखने में बौद्ध मत परम सहायक होगा।" ऐसा इसलिए है, क्योंकि "व्यक्ति को बदलने के लिए बुद्ध ने उसकी नैतिक वृत्ति को बदला ताकि वह सही रास्ते पर जाए-लेकिन स्वेच्छा से।"

17.6 भारतीय परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद

अम्बेडकर ने युवावस्था में विदेशों में अध्ययन की अवधि में भी मार्क्सवाद से कोई विशेष लगाव नहीं दिखाया था, यद्यपि उस समय मार्क्सवाद युवाओं में बहुत लोकप्रिय था। इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी था कि मार्क्सवाद मूलतः आर्थिक सिद्धांत है और अम्बेडकर भी मूलतः अर्थशास्त्री थे। इसके पीछे एक कारण तो यह था कि अम्बेडकर सम्भवतः नैसर्गिक रूप से उदारवादी थे। दूसरी बात यह थी कि उनका दलित समुदाय अपनी मुक्ति के लिए एक बड़ी लड़ाई में लगा था। उसके संघर्ष का दूसरा मोर्चा खोलने से भटकाव और अनावश्यक टकराव ही होता। फिर भारत की परिस्थितियाँ भिन्न थीं। अम्बेडकर ने लिखा है...."समाजवादियों की त्रुटि इस मान्यता में है कि, चूँकि यूरोपीय समाज के वर्तमान दौर में शक्ति का मुख्य आधार सम्पत्ति है, इसलिए वैसा ही भारत के लिए भी सच होगा।" उनके अनुसार भारत में "धर्म, सामाजिक प्रस्थिति और सम्पत्ति-तीनों शक्ति और प्राधिकार के स्रोत हैं, जिनके आधार पर कोई व्यक्ति अन्य की स्वतंत्रता नियंत्रित कर सकता है। एक चरण पर एक प्रभावी होता है, दूसरे पर अन्य। यही अंतर है।"

भारत में मार्क्सवादी आंदोलन अपने यूरोपीय प्रेरणा केन्द्रों की कार्बन कापी बन गया। भारतीय मार्क्सवादियों ने जाति को सदैव अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) ही माना। भारतीय परिस्थिति की मौलिक भिन्नता को उन्होंने अनदेखा कर दिया। एक अंतर यह था कि भारत में बड़े जनांदोलन सदैव धार्मिक भावना से ही चल सके हैं। उन सबने कम से कम धर्म से टकराव की स्थिति कभी नहीं आने दिया। नारायण गुरू, फुले और घासीराम तक की यही स्थिति थी, जबकि मार्क्सवाद ने सीधे कर्म पर आक्रमण कर दिया। यूरोप में धर्म-सुधार, पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रांति और समाजवादी आंदोलनों की लम्बी परम्परा ने एक तो धर्म के आधार को कमजोर कर दिया था और बोर्जुआ तथा श्रमिकों-दोनों को एक सीमा तक प्रगतिशील बना दिया था। भारत में मार्क्सवाद शहरी बुद्धिजीवियों के नियंत्रण में रहा। इसके अतिरिक्त भारतीय संगठित श्रमिक वर्ग में अस्पृश्य कम रहे। भारतीय मार्क्सवाद ने संगठित श्रमिक क्षेत्रों पर जोर दिया, कुछ इसलिए भी क्योंकि संगठित होने के कारण ये श्रमिक हड़ताल जैसी प्रभावी 'औद्योगिक कारवाई' बहुत सरलता से कर लेते थे। भारतीय दलित संगठित श्रमिकों की तुलना में बहुत दयनीय स्थिति में थे और आज भी हैं। भारतीय दलित एक प्रकार से वास्तविक और शाश्वत सर्वहारा हैं, लेकिन भारतीय मार्क्सवादी यूरोपीय मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह न लगा सके। अम्बेडकर ने शुरुआती चरण में स्वतंत्र श्रमिक दल बनाकर कई बार दलित-श्रमिक एकता का प्रयास किया। उनका कहना था-"श्रमिकों के दो विरोधी हैं-ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद।" ऐसी कई हड़तालों में अम्बेडकर ने भाग लिया, फिर भी उनके मन में यह संदेह बना रहा कि भारतीय मार्क्सवादी-समाजवादी दलितों की समस्या को समझ नहीं सके हैं।

यह स्पष्ट नहीं है कि अगर भारतीय समाज और विशेषतः भारतीय दलितों की इतनी विशिष्ट न होती, तो डा0 अम्बेडकर मार्क्सवाद को किस प्रकार देखते। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें मार्क्सवाद पर दो

मूल आपत्तियाँ थीं। एक तो यह कि मार्क्सवाद अनावश्यक और अतिरेकी हिंसा पर जोर देता है और सर्वहारा के नाम पर अधिनायकवाद स्थापित करता है। दूसरी आपत्ति उसके चरम भौतिकतावाद पर है, जिससे खिन्न होकर अम्बेडकर ने कार्लाहल का शब्द उधार लेकर मार्क्सवाद को "शूकर दर्शन" बताया है।

17.7 "आर्थिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण"

हम देख चुके हैं कि अम्बेडकर ने अपने सार्वजनिक जीवन में दलितों के साथ ही श्रमिकों को भी पर्याप्त महत्व दिया था। बम्बई विधान सभा के अपने 12 वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने ऐसे तमाम कानून बनवाये और पुराने कानूनों में संशोधन के प्रस्ताव रखे। श्रमिक समस्याओं से उनका जुड़ाव आगे बना रहा। इस कार्य में उनको एक बड़ा अवसर जुलाई 1942 में मिला जब उन्हें वायसराय की कार्यकारिणी में श्रमिक समस्याओं का दायित्व दिया गया। इस स्थिति में उन्होंने श्रमिक कल्याण की व्यापक व्यवस्था बनाई, जैसे श्रमिकों के न्यूनतम वेतन और काम करने के अधिकतम घंटों का निर्धारण, त्रिपक्षीय संगठन का गठन, बीमा योजना का क्रियान्वयन और श्रमिक संगठनों की मान्यता के मानदंडों का निर्धारण। उस समय यह आपत्ति की जाती थी कि अगर औद्योगिक विकास के इस चरण में श्रमिक कल्याण की योजनाएँ बनायी जाएंगी, तो औद्योगिक विकास नहीं हो पाएगा, मंहगाई बढ़ेगी और प्रायः तो इन्हें लागू कर पाना भी कठिन होगा। औद्योगिक क्रांति के शास्त्रीय प्रतिरूप यानी इंग्लैंड में भी लगभग एक शताब्दी तक श्रमिक कल्याण की कोई व्यवस्था नहीं थी। अम्बेडकर ने इन श्रमिक विरोधी तर्कों का प्रबल प्रतिवाद किया।

बाद में डा0 अम्बेडकर ने आर्थिक कार्यक्रमों की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत किया, जिसका शीर्षक था–"आर्थिक शोषण के विरुद्ध संरक्षण।" उन्होंने इस व्यवस्था को 'राजकीय समाजवाद' का नाम दिया। उनका मानना था कि चकबंदी और मुजारा कानूनों से 6 करोड़ दलितों की समस्या का कोई समाधान नहीं होगा। क्योंकि वे अधिकतर भूमिहीन श्रमिक या सीमांत कृषक ही हैं। इसी तरह उद्योग के क्षेत्र में पूँजीवादी विकास से भी श्रमिकों को कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि पूँजीवाद से अमानवीय असमानता और बढ़ेगी। इनकी योजना में इनका विकल्प तैयार किया गया था, जिसमें मुख्य बातें इस प्रकार थीं–मुख्य उद्योगों और बीमा पर राज्य का नियंत्रण होगा, क्योंकि भारी मात्रा में पूंजी का निवेश राज्य ही कर सकता है। इसी तरह समस्त कृषि भूमि राजकीय नियंत्रण में रहेगी, यद्यपि उसको सभी कृषकों के बीच औचित्यपूर्ण ढंग से बांट दिया जाएगा। कृषि सामूहिक ढंग से होगी। जिन उद्योगपतियों, सामन्तों और भूस्वामियों से सम्पत्ति का अधिग्रहण होगा, उनको क्षतिपूर्ति के रूप में ऋण-पत्र प्रदान किए जाएंगे। ये ऋण-पत्र वंशानुगत होंगे, लेकिन इनके ब्याज की राशि और भुगतान के प्रकार का निर्धारण राज्य ही करेगा।

अम्बेडकर का मानना था कि इस योजना से आर्थिक प्रगति के साथ सामाजिक समानता भी स्थापित हो सकेगी। उन्होंने यह भी प्रयास किया कि इसके कुछ प्राविधानों को संविधान में शामिल किया जाए, ताकि राजनैतिक लोकतंत्र के साथ आर्थिक-सामाजिक लोकतंत्र भी स्थापित हो। वे यह भी चाहते थे कि इस 'राजकीय समाजवाद' को संविधान की मौलिक व्यवस्था में इस प्रकार शामिल किया जाए कि परिवर्तनशील विधायिका इसे संशोधित न कर सके। निसन्देह अम्बेडकर की यह योजना अत्यधिक कल्पनाशील थी, लेकिन सम्भवतः वे स्वयं इस योजना पर समय नहीं दे सके। एक अर्थशास्त्री होने के नाते उनसे अपेक्षा थी कि वे इस रूपरेखा के विस्तार में जाते। इतने विशाल देश की समग्र कार्यशील सम्पत्ति का अधिग्रहण और संचालन कैसे होगा और क्षतिपूर्ति की राशि कहाँ से आयेगी?

उन्होंने इन महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार नहीं किया।

17.8 राष्ट्रवाद का स्वरूप और भारतीय राष्ट्रवाद

डा0 अम्बेडकर ने राष्ट्रवाद का विशद विश्लेषण अपनी पुस्तक 'थाट्स ऑन पाकिस्तान' में किया है। उनके अनुसार राष्ट्रवाद मूलतः एक भावना है, जो आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थों से परे है। उन्होंने रेनां के इस वाक्य को उद्धृत किया है कि 'वह प्रतिदिन होने वाला जनमत संग्रह' है। एक दुधारी भावना की भाँति राष्ट्रवाद एक वर्ग को आत्मीयता के बंधन में बाँधती है और उसके साथ शेष वर्ग से अलग भी करती है। अम्बेडकर राष्ट्र को राज्य की अपेक्षा समाज से अधिक गहराई से जोड़ते हैं। राष्ट्र की शक्ति राज्य को समाज से ही मिलती है। जहाँ राष्ट्रीय भावना उपस्थित है, वहाँ राज्य भी प्रभावशाली होगा...."राज्य का अर्थ राष्ट्र नहीं है और जो राज्य राष्ट्र नहीं है, वह अस्तित्व के संघर्ष में कठिनाई से ही बच पाएगा।" इस प्रकार वह राष्ट्र-राज्य को सम्मानित स्थान देते हैं। राष्ट्र की शक्ति के बिना राज्य कुछ नहीं है, क्योंकि "राष्ट्रवाद एक ऐसी भावना है, जिसे अनदेखा या अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। हम इसे अतार्किक सहजवृत्ति या सकारात्मक विभ्रम कह सकते हैं, लेकिन यह एक तथ्य है कि इस बल में साम्राज्यों को विघटित करने की गतिशील शक्ति है।" उन्होंने इसका एक उदाहरण अरब राष्ट्रवाद से दिया है, जिसने इस्लाम के उस धार्मिक बंधन को भी तोड़ दिया, जिसे "मानवों में अब तक ज्ञात सर्वाधिक सशक्त बंधन" माना जाता है। अरब राष्ट्रवाद के तूफान ने तुर्की आटोमान खलीफा के साम्राज्य को नष्ट कर दिया।

राष्ट्रवाद की सैद्धान्तिक विवेचना करते हुए उन्होंने राष्ट्र को राष्ट्रीयता, समुदाय और देशभक्ति से अलग किया है। उनके अनुसार राष्ट्रीयता राष्ट्र में विकसित हो सकती है, अगर (1) इस समुदाय में साथ रहने की भावना बाध्यकारी बल प्राप्त कर ले और (2) उसके पास वह भूक्षेत्र हो जिस पर राज्य स्थापित किया जा सके। समुदाय "वे जन हैं जो विरोधों के होते हुए भी स्वयं अपने और अपने विरोधियों के लिए एक साझे भविष्य की कल्पना करते हैं", जबकि दो राष्ट्र अपने भविष्य को अलग ढंग से ही सोच सकते हैं, भले ही उन्हें विवशता में कितने भी लम्बे समय तक साथ क्यों न रहना पड़े। इसी कारण समुदाय को विद्रोह का अधिकार है, जबकि राष्ट्र को राज्य विखंडित करने का भी अधिकार है। समस्या उस समय आती है जब राष्ट्रीयताएँ भावनात्मक आवेश में राष्ट्र-राज्य बनने का हिंसक प्रयास करती हैं। अम्बेडकर के अनुसार अगर राष्ट्रीयता (1) जुड़े हुए भूभाग पर रहती है, और (2) वह भूभाग शेष भूभाग से अलग किया जा सकता है तो उस राष्ट्रीयता को राष्ट्रमानकर राज्य दिया जा सकता है। अम्बेडकर राष्ट्रवाद और देश भक्ति (पैट्रियाटिज्म) में भी अंतर करते हैं। राष्ट्रवाद "जीवन की पूरी विविधता में, सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाज की परम्परा और उपलब्धियों के प्रति लगाव की भावना" है, जबकि देशभक्ति "अपनी जन्मभूमि की मिट्टी और पूरे परिवेश की भौगोलिक विशेषता के प्रति लगाव की भावना" है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि डा0 अम्बेडकर के दलित समुदाय ने अस्पृश्यता की अमानवीय यातना शताब्दियों से सहन किया है और स्वयं अम्बेडकर भी इसके अपवाद नहीं रहे। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने और बड़े पदों पर रहने के बाद भी उन्हें अस्पृश्यता से मुक्ति नहीं मिली। 1928 में जब वे विधायक थे और स्टार्ट समिति के सदस्य के तौर पर एक प्राथमिक विद्यालय का दौरा करने गये थे, एक शिक्षक ने उन्हें कक्षा में घुसने नहीं दिया। एक बार खानदेश की यात्रा करते समय तांगेवाले ने उनका परिचय प्राप्त करने पर तांगा चलाने से मना कर दिया। विवशता में अम्बेडकर के नौसिखिये साथी ने तांगा चलाया, जिसके पलट जाने पर अम्बेडकर की हड्डी टूट गयी और उन्हें दो महीने

बिस्तर पर रहना पड़ा। इन अपमानों के बाद भी वे भारतीय राष्ट्र के भविष्य के प्रति आशावान रहे। उन्होंने उस समय के प्रचलित नस्लवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध दो पुस्तकें लिखकर यह सिद्ध किया कि शूद्र और अस्पृश्य नस्ली तौर पर भारतीय समाज के ही अंग हैं? खिलाफत आंदोलन का विरोध उन्होंने इस आधार पर किया, क्योंकि उसमें विदेशी खलीफा को फिर से स्थापित करने की मांग की गयी थी। इसी तरह उन्होंने सिंध जैसे, मुस्लिम बहुल प्रांत की माँग का समर्थन करने पर मौलाना आजाद की आलोचना किया था। उन्होंने भाषाई प्रांतों का विरोध इसी आधार पर किया क्योंकि उससे राष्ट्रीय एकता नष्ट होती है। कर्नाटक और गुजरात के अलगाव का समर्थन करने पर उन्होंने कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की राष्ट्र भक्ति पर प्रश्न चिह्न लगाया था।

अम्बेडकर सदैव यह मानते थे कि सशक्त केंद्र ही दलितों की रक्षा कर सकेगा, जबकि प्रांतीय सरकारें दलितों के हितों की रक्षा नहीं कर पाती हैं। इसीलिए उन्होंने एकात्मक और केंद्रीकृत राज्य का समर्थन किया। वे यह भी चाहते थे कि राष्ट्र भाषा एक ही हो....''एक भाषा लोगों को जोड़ती है। यह निश्चित है कि दो भाषाएँ जनता को विभाजित करेंगी। चूंकि भारतवासी एकता और साझी संस्कृति का विकास करना चाहते हैं, इसलिए सभी भारतीयों का कर्त्तव्य है कि वे हिंदी को अपनी भाषा के तौर पर स्वीकार करें।'' उन्होंने एकता की भावना को प्रबल करने के लिये ही भारतीय संविधान में ऐसी व्यवस्थाएँ बनाई''....''एक भारतीय के नाते मैं भारतीय राष्ट्रवाद का विकास चाहता हूँ और इसमें बाधा पड़ने के विचार से मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ। भारतीय राष्ट्र के विकास में एकात्मक शासन का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है।''

अम्बेडकर का राष्ट्र प्रेम उनके धर्म-परिवर्तन के निर्णय में भी दिखता है। संविधान सभा में अम्बेडकर का योगदान राष्ट्रवादी दृष्टि से अतुलनीय है। उन्होंने कहा था कि अब समय आ गया है, जब हम जाति और पंथ के मतभेद भुलाकर राष्ट्र निर्माण के काम में लग जाएँ...''हमें अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अपने खून की आखिरी बूँद भी बहाने के लिए तैयार रहना चाहिए। 17 दिसम्बर 1946 को उन्होंने संविधान सभा में कहा था....''समय और परिस्थितियाँ अनुकूल होंगी और मुझे यह कहने में रंच मात्र हिचक नहीं है कि हम लोग किसी न किसी रूप में एक हो जाएंगे।'' उनके अनुसार इस आशावाद का आधार संस्कृतिक एकता का उत्तराधिकार है, जो हमें प्राचीन काल से मिला है....''भारत की एकता उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि प्रकृति। इस भौगोलिक एकता के भीतर, इसके पूरे विस्तार में अनादिकाल से ही सांस्कृतिक एकता व्याप्त है। इस सांस्कृतिक एकता ने राजनैतिक और नस्ली विभेदों को परास्त कर दिया है। इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती....कि भारत मौलिक रूप से एक है।''

17.9 सारांश

इस इकाई में हमने दलित अस्मिता के प्रबलतम प्रवक्ता डा0 अम्बेडकर के विचारों का अध्ययन किया। इस माध्यम से हम जान सके कि पिछली शताब्दी में किस प्रकार भारतीय समाज के वंचित वर्गों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया। इस दलित जागरण में निसन्देह डा0 अम्बेडकर की सर्वाधिक सक्रिय भूमिका रही। उन्होंने इस जागरण का एक विस्तृत वैचारिक आधार तैयार किया। इसके साथ उन्होंने जनसंघर्षों, विधायिकाओं, गोलमेज सम्मेलनों तथा संविधान सभा आदि के मोर्चों में सक्रिय सहभागिता करके दलितों को राष्ट्रीय राजनीति में सम्भाजनक स्थान दिलवाया।

डा0 अम्बेडकर जैसी बहुमुखी प्रतिभाएँ बहुत कम होती हैं। उन्होंने एक 65 वर्ष के अल्पजीवन में सामाजिक जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया। उन्होंने सिद्ध किया कि शूद्र और अस्पृश्य किसी

अलग नस्ल के नहीं है और इतिहास की कतिपय दुखद घटनाओं ने उन्हें निचले स्तर पर पहुँचा दिया। प्राचीन भारत में ऐसी असमानता नहीं थी। तत्कालीन समाज लचीला था। उन्होंने बौद्ध काल की स्वर्णिम उपलब्धियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया। इस आधार पर भारत एशियाई देशों से निकटता बढ़ा सकता है। बौद्ध भारत के महान योगदान को हम भूल चुके थे। उनके प्रयास से ही कुछ प्रतीक हमारे राष्ट्रीय चिह्नों में सम्मिलित हो सके। उनके उदाहरण से हम समझ सकते हैं कि जनतांत्रिक व्यवस्था में टकराव होता है लेकिन धीरे-धीरे उन समस्याओं का अगर समाधान न हो, तो भी किसी प्रकार का समायोजन हो ही जाता है। अधिनायकवादी व्यवस्था में इन समस्याओं से हिंसक गृह युद्ध हो जाता है। राष्ट्रीय संकट के समय का राष्ट्र-निर्माता के महत्वपूर्ण अवसरों पर जनतंत्र में विरोधी भी अपना विरोध भूलकर बहुमत से नहीं बल्कि सर्वानुभूति से काम करने लगे हैं। भारतीय संविधान के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाकर डा0 अम्बेडकर ने राष्ट्र को यही संदेश दिया।

17.10 उपयोगी पुस्तकें

1. डा0 धनंजय कीर– डा0अम्बेडकर, लाइफ एंड किशन, पापुलर प्रकाशन, बम्बई 1985
2. डब्लू एन कुबेर– अम्बेडकर : ए क्रिटिकल स्टडी, पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस, नयी दिल्ली 1949
3. भारती, के एस– फाउंडेशन ऑफ अम्बेडकर थॉट, डॉटसन पब्लिशर्स, नागपुर, 1990
4. कुसुम शर्मा– अम्बेडकर एंड इंडियन कांस्टीच्यूशन, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1985

17.11 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. डॉ0 अम्बेडकर का पूरा जीवन सामाजिक समानता के संघर्ष की वीर गाथा। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
2. राष्ट्रवाद के स्वरुप और भारतीय राष्ट्रवाद के संघर्ष में डा0 अम्बेडकर के विंचारों की विवेचना कीजिये।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. डा0 अम्बेडकर के अनुसार वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था में क्या अंतर था?
2. डा0 अम्बेडकर के किन कारणों से जाति-उन्मूलन को असंभव या कठिन बताया था?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. डा0 अम्बेडकर की जन्मतिथि क्या है?

   (अ) 14 अप्रैल, 1891

   (ब) 15 अप्रैल, 1891

   (स) 16 अप्रैल, 1891

   (द) 17 अप्रैल, 1891

2. डा0 अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म को छोड़कर किस धर्म को स्वीकार किया था?

   (अ) इसाई धर्म

   (ब) इस्लाम धर्म

   (स) जैन धर्म

   (द) बौद्ध धर्म

17.12 प्रश्नोत्तर

1. (अ)
2. (द)

इकाई–18 : राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 संक्षिप्त जीवन वृत्त

18.3 राजर्षि के आर्थिक विचार

18.4 भारतीय संस्कृति का बौद्धिक आधार

18.5 राजर्षि और राष्ट्रीय समस्याएँ

18.6 धार्मिक व्यक्तिगत विधि और धर्मान्तरण

18.7 राष्ट्रभाषा हिंदी, देवनागरी लिपि और अंक

18.8 हिंदुस्तानी और हिंदी

18.9 सारांश

18.10 उपयोगी पुस्तकें

18.11 सम्बन्धित प्रश्न

18.12 प्रश्नोत्तर

18.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन से आपको ज्ञात होगा कि-

- वर्तमान काल की तमाम व्यवस्थाओं को हम सहज स्वीकार कर लेते हैं, जैसे उनका औचित्य स्वयंसिद्ध हो और उन पर हमारा जन्मजात अधिकार हो, लेकिन उनको पाने के लिए राजर्षि टंडन जैसे महापुरुषों को कितना कष्ट उठाना पड़ा है। यह स्थापना विशेष रूप से राष्ट्रभाषा हिंदी के लिए सच है। आपको यह अविश्वसनीय लगेगा कि आधुनिक हिंदी को केवल अंग्रेजी और उर्दू से ही नहीं बल्कि हिंदुस्तानी नाम की प्रायः कृत्रिम भाषा से भी लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी, जिस प्रक्रिया में हिंदी को महात्मा गांधी तक के कठोर विरोध का सामना करना पड़ा,
- बहुत अर्थों में स्वतंत्र भारत में भी आधुनिकीकरण के नाम पर किस प्रकार से पश्चिमीकरण किया गया और किस प्रकार से सर्वोदय की तरह ही राजर्षि टंडन ने भारतीय संस्कृति के तमाम पहलुओं जैसे देशी और प्राकृतिक चिकित्सा, हिंदू उत्तराधिकार, देवनागरी लिपि और अंक आदि के लिए संघर्ष किया, और
- कांग्रेस के भीतर ही गांधी-नेहरू से अलग एक विकसित विचारधारा किस प्रकार संघर्षरत थी और राजर्षि टंडन के नेतृत्व में उस विचार ने किस प्रकार से–कम से कम राष्ट्रभाषा के मामले में निर्णायक विजय हासिल किया।

18.1 प्रस्तावना

हमें ज्ञात है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही लाल-बाल-पाल के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रवाद का

ओजस्वी रूप सामने आ रहा था। 1905 के बंग-भंग ने जनाक्रोश को चरम पर पहुँचा दिया। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के राजनैतिक ही नहीं, तमाम सांस्कृतिक आयाम भी होते हैं। इस तरह स्वतंत्रता-संघर्ष प्रमुखतः कांग्रेस के नेतृत्व में तो लड़ा ही जा रहा था, उसके साथ ही राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय लिपि, धार्मिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय साहित्य आदि के लिये भी संघर्ष चल रहा था। वस्तुतः बिल्कुल ठीक–सन् 1900 में ही राष्ट्रभाषा की लड़ाई का एक एतिहासिक चरण पूरा हुआ था, जब संयुक्त प्रांत के राज्यपाल–मैकडानेल ने उर्दू के साथ हिंदी को भी कचेहरी आदि के सरकारी काम के लिए स्वीकार कर लिया। उस समय तो हिंदी को केवल उर्दू का समकक्ष माना गया था, लेकिन इस मान्यता के लिए ही लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की राजनैतिक लड़ाई का विस्तृत विवरण तो हम पढ़ते हैं, लेकिन हम प्रायः राष्ट्रभाषा के सांस्कृतिक संघर्ष को कम महत्व देते हैं। टंडन जी के जीवन में हमें राजनैतिक और सांस्कृतिक–दोनों संघर्षों का समान महत्त्व मिलेगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजनैतिक संघर्ष तो रुक गया, लेकिन राष्ट्रीय अस्मिता के सांस्कृतिक पक्ष के लिए राजर्षि टंडन जैसे कतिपय महापुरुषों का संघर्ष चलता रहा। हम देखेंगे कि इस सांस्कृतिक संघर्ष के चलते राजर्षि टंडन केवल उपेक्षा ही नहीं, अनादर तक के शिकार हुए। एक प्रकार से उन्हें इतिहास के हाशिये पर डाल दिया गया। काका कालेलकर को लिखे एक पत्र में टंडन जी की मार्मिक वेदना झलकती है..... "सार्वजनिक जीवन में हम लोगों को आक्षेप और कटु भाषा सुनने का अभ्यास हो जाता है। जिसको हम शुद्ध-बुद्धि से अपना सदाशय समझते हैं, उसमें लोग साधारण ईमानदारी की कमी का भी आक्षेप करते हैं। ऐसी बातों को हम लोग सहन कर लिया करते हैं। हृदय पर चोट तो पहुँचती है, किंतु कर्त्तव्य अथवा कार्यमोह अथवा आदत इन बातों को बर्दाश्त करवा देती है। आपके वाक्यों को मैं इसी रीति से सहूँगा"।

सम्भवतः कांग्रेस में राजर्षि टंडन अकेले ऐसे व्यक्ति रहे, जिन्होंने पूरा जीवन कांग्रेस में बिताते हुए भी गांधी और नेहरू का महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विरोध किया और अगर विजयी नहीं रहे तो पराजित भी नहीं हुए। 1950 में उन्होंने प्रधानमंत्री नेहरू के खुले विरोध के बाद भी कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव जीता। क्लीमेंट एटली और हेरोल्ड लॉस्की का प्रसिद्ध उदाहरण हमारे सामने है, जिसके बाद राजनीति शास्त्रियों ने सर्वसम्मति से मान लिया था कि सत्ताधारी राजनैतिक दल का अध्यक्ष प्रधानमंत्री से जीत नहीं सकता। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि राजर्षि टंडन प्रधानमंत्री के गृह जनपद इलाहाबाद से ही थे और वहीं से 1937 और 1952 में क्रमशः प्रांतीय और राष्ट्रीय विधायिकाओं के लिए निर्वाचित हुए थे। इसके बाद भी राजर्षि टंडन का सर्वाधिक महत्त्व राष्ट्रभाषा हिंदी को स्थापित करने में है, क्योंकि यह भाषा हमारी आधुनिक अस्मिता का अभिन्न अंग है। इस प्रश्न पर अगर उन्होंने सीधा संघर्ष न किया होता, तो महात्मा गांधी हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए कृतसंकल्प थे। राजर्षि टंडन भाषा और लिपि के मामले में विजयी रहे, यद्यपि देवनागरी अंक के प्रश्न पर संविधान सभा में वे एक मत से पराजित हुए। उन्होंने संयुक्त प्रांत में विधानसभा अध्यक्ष रहते हुए हिंदी को सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया, जबकि उस समय संयुक्त प्रांत तक में हिंदी राजभाषा नहीं थी। उन्होंने हिंदी को इतना सक्षम बना दिया था कि फिर केंद्र में उन्होंने उसी आधार पर हिंदी को बढ़ाया। राजर्षि टंडन को ठीक इसी आधार पर कट्टरपंथियों में शामिल कर लिया गया। पं0 नेहरू की जीवनी के लेखक माइकेल ब्रोचर ने तो उन्हें सीधे 'हिंदू साम्प्रदायिक' तक मान लिया है। उन्हें केन्द्रीय मंत्रिमंडल में कभी स्थान नहीं मिला। 1950 में सरदार पटेल के निधन के बाद वे कांग्रेस में कुछ अलग-थलग पड़ गए। उनके व्यक्तित्व में कोई दोष नहीं था, फिर भी उन्हें उचित महत्त्व नहीं मिला। स्पष्ट है कि मामला सैद्धान्तिक था। गांधी जी दबाव के कारण हिंदी छोड़कर हिंदुस्तानी पर आ गए और उर्दू की लिपि को देवनागरी के बराबर रखने लगे। इसका अर्थ होता कि हिंदी राष्ट्रभाषा तो नहीं ही रहती, लिपि के मामले में भी उसका हिस्सा आधा ही रहता। अंक रोमन रहते। अंग्रेजी का प्रभुत्व अलग से रहता। राजर्षि टंडन ने इसका विरोध किया। यहाँ तक कि गांधी जी ने अपने को हिंदी

साहित्य सम्मेलन से अलग कर लिया। हम कल्पना कर सकते हैं कि राजर्षि टंडन कितनी बड़ी लड़ाई लड़ रहे थे।

18.2 संक्षिप्त जीवन वृत्त

पुरुषोत्तर दास टंडन का जन्म अगस्त 1882 को इलाहाबाद के अहियापुर मोहल्ले में हुआ था। परम्परानुसार उस अवधि में मलमास या पुरुषोत्तम मास था, इस आधार पर उनका नामकरण हुआ। एक विचित्र संयोग ने प्रारम्भ से ही उनके जीवन की दिशा तय कर दिया। संयोग यह था कि उनके पड़ोस में ही मदनमोहन मालवीय और द्विवेदी-युग के प्रातिनिधिक लेखक बालकृष्ण भट्ट रहते थे। युवा पुरुषोत्तम को मालवीय से अग्रज और भट्ट जी से पिता जैसा स्नेह मिला। हम कह सकते हैं कि राजर्षि का पूरा जीवन ही मालवीय और भट्ट की प्रारम्भिक प्रेरणाओं का प्रखर प्रसार था। मालवीय ने संयुक्त प्रांत के शासकीय कार्यों के लिए हिंदी के पक्ष में एक ऐतिहासिक हस्ताक्षर अभियान चलाया था, जिस कारण 1900 में हिंदी को उर्दू के समकक्ष स्थान मिला। बाद में मालवीय काशी हिंदू विश्वविद्यालय के काम में लग गए और उन्होंने हिंदी और प्रयाग के विकास के अभियान को युवा पुरुषोत्तम को सौंप दिया। 1910 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रांगण में दोनों ने मिलकर हिंदी साहित्य सम्मेलन की स्थापना किया। मालवीय उसके सभापति और पुरुषोत्तम मंत्री हुए। कालान्तर में राजर्षि सम्मेलन से एकाकार हो गए। मालवीय की प्रेरणा से उन्होंने 1904 में मात्र 22 वर्ष की अवस्था में एक पेड़ के नीचे कुछ बालिकाओं को पढ़ाकर गौरी पाठशाला का श्री गणेश किया। उसकी तात्कालिक प्रेरणा इसाई मिशनरियों की शिक्षा व्यवस्था का विकल्प बनाने की चुनौती थी, क्योंकि उसी शिक्षा से उनके मोहल्ले में एक बालिका का धर्म-परिवर्तन हुआ था। राजर्षि बाद में इस बात का उल्लेख गर्व से करते थे कि उनको पुरातनपंथी कहकर चाहे कितना निन्दित क्यों न किया गया हो, वास्तव में उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए अपने ही समाज से लम्बी लड़ाई लड़ी है। उन्होंने हिंदी, स्त्री, शिक्षा, प्राकृतिक चिकित्सा और भारतीय संस्कृति के कुछ अन्य प्रसंगों पर जो संघर्ष किया, उसका संदर्भ हम अन्य शीर्षकों में करेंगे। यहाँ हम प्रमुखतः राजनैतिक घटनाओं का ही सिंहावलोकन करेंगे।

राजर्षि टंडन कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार 1899 में शामिल हुए, लेकिन उनकी सक्रिय सहभागिता 1904 से शुरू हुयी, फिर अगले वर्ष वे बनारस अधिवेशन में तत्कालीन अध्यक्ष गोखले के अंगरक्षक बने। 1908 से 1914 तक उन्होंने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में तेज बहादुर सप्रू के निर्देशन में वकालत किया। 1914 में वे मालवीय जी के कहने पर नाभा रियासत के दीवान बने और फिर वे वहाँ के विदेश मंत्री भी बने। नाभा बहुत बड़ी रियासत थी और उनका पद भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। उस समय अंग्रेज विश्वयुद्ध के लिए भारत से सैनिकों की भर्ती कर रहे थे। सम्भवतः ऐसे महत्त्वपूर्ण मौके पर उनको यह उचित नहीं लगा कि पुरुषोत्तम दास जैसे राष्ट्रवादी नाभा में रहें। उन्होंने त्याग पत्र देकर प्रयाग में फिर से हिंदी का काम सम्भाल लिया। उन्होंने 1918 में हिंदी विद्यापीठ की स्थापना किया। अगले साल वे इलाहाबाद महानगर पालिका के अध्यक्ष बने। उनके पहले इस पद पर प्रायः आई0 सी0 एस0 अधिकारी होते थे। अंग्रेजों ने स्थानीय स्वशासन की नीति के आधार पर पहली बार चुनाव से यह पद किसी भारतीय को दिया। श्री नारायण चतुर्वेदी ने इस भूमिका में इनकी "शान और दबंगई" की चर्चा की है और लाल बहादुर शास्त्री ने संस्मरण में लिखा है कि अध्यक्ष के रूप में टंडन जी हमेशा ही पैदल घूमते रहते थे। अपने छोटे से कार्यकाल में उन्होंने वाटर वर्क्स से पानी देने के मामले में तत्कालीन राज्यपाल (लाट साहब) और पानी के बिल के भुगतान के मामले में छावनी के सेनाधिकारियों से टकराव मोल लिया और दोनों मामलों में जीत हासिल की। उन्होंने प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत में अभिनंदन पत्र पढ़ने से मना कर दिया। इस अवधि में ही टंडन जी ने मोतीलाल जी के अनुरोध पर युवा जवाहर लाल को राजनैतिक प्रशिक्षण दिया। बाद में दोनों में बहुत

मतभेद रहा, लेकिन इलाहाबाद की संसदीय सीट पर टंडन जी के अधिकार को नेहरू जी ने सदैव ही स्वीकार किया।

1921 में असहयोग आंदोलन के क्रम में टंडन जी के घर की कुर्की हो गयी और उनके परिवार पर गहरा आर्थिक संकट छा गया। उनका सिद्धांत था कि सार्वजनिक कार्य की क्षतिपूर्ति नहीं होना चाहिए। उनके परिवार ने मालवीय जी और जमनालाल बजाज के सहायता प्रस्तावों को स्वीकार नहीं किया। उनके बेटों को आजीविका के लिए कपड़े और कढ़ाई के छोटे काम करने पड़े। असहयोग आंदोलन के बाद उनका सम्मान बढ़ चुका था। वे 1923 में प्रदेश कांग्रेस के गोरखपुर अधिवेशन के अध्यक्ष बने। वे 1922 और 1923 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे। 1925 तक आते-आते कांग्रेस का आंदोलनात्मक स्वरूप फीका पड़ गया था। शायद इसी कारण उन्होंने उस साल लाला लाजपत राय के अनुरोध पर लाहौर जाकर पंजाब नेशनल बैंक के संयुक्त सचिव का काम सम्भाल लिया। लाला लाजपत राय की मृत्यु पर उन्होंने उनके संगठन–लोक सेवा मंडल की अध्यक्षता स्वीकार किया। गांधी जी का अनुरोध था कि लोक सेवा मंडल को टंडन जी ही सही दिशा दे सकते हैं। मंडल के माध्यम से उन्होंने देश के भावी नेताओं को तैयार किया, जिसमें पंजाब के अचिंतदास, उड़ीसा के विश्वनाथ दास और हरेकृष्ण मेहताब तथा उत्तर प्रदेश के लाल बहादुर शास्त्री और अलगूराय शास्त्री का नाम प्रसिद्ध हैं।

राजर्षि के गैर राजनैतिक कार्यों में प्रायः केवल हिंदी की ही चर्चा होती है लेकिन वास्तव में वे रचनात्मक कार्यों में भी समान दिलचस्पी रखते थे। लोक सेवा मंडल में तो लाजपत राय ने उन्हें पहला सदस्य ही बनाया था। उससे पहले भी 1908 में वे लाजपत राय के साथ अकाल निवारिणी सभा के द्वारा अकाल में सहायता कार्य कर चुके थे। उन्होंने इलाहाबाद के किले में बंद गिरमिटिया मजदूरों को छुड़ाया था। 1917 में प्रयाग में प्लेग फैलने पर उन्होंने सराहनीय काम किया था। 1934 में बिहार के भूकम्प पीड़ितों के बीच उन्होंने डा० राजेन्द्र प्रसाद के साथ राहत कार्य किया। 1925 में प्रयाग के अर्धकुम्भ के अवसर पर उन्होंने स्नान के प्रश्न पर प्रशासन से टकराव मोल लिया। इस तरह के उदाहरण बहुत हैं। 1944 में उन्होंने प्रांतीय प्रतिनिधि सभा बनाकर 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के शिकार परिवारों की आर्थिक और वैधानिक सहायता की व्यवस्था किया। इसी क्रम में उन्होंने जौनपुर के युवकों को न्यायिक प्रक्रिया के द्वारा मृत्युदंड से बचाया।

असहयोग आंदोलन के दस साल बाद 1930-31 से कांग्रेस ने फिर सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया। इस आंदोलन में नमक बनाने के कारण उनकी जमीन जब्त हुई। इसी कारण सम्मेलन मार्ग की इस भूमि का नाम तपोभूमि रखा गया। फिर 1937 में प्रांतीय स्वायत्तता और द्वैध शासन के आधार पर प्रांतीय विधायिकाओं के चुनाव हुए, जिसमें वे प्रयाग नगर से निर्विरोध निर्वाचित हुए और फिर निर्विरोध अध्यक्ष भी बने। विधान सभा अध्यक्ष का पद उनके व्यक्तित्व से बड़ा नहीं था, फिर भी उन्होंने उस पद पर रहकर भारतीय राजनीति को दो महत्त्वपूर्ण और उससे भी बढ़कर स्थायी–उपहार दिए। जनवरी 1938 में मुस्लिम लीग के जहीरुल हसन लारी ने अध्यक्ष की राजनैतिक सक्रियता के विरोध में एक प्रस्ताव रखा। सदन में कांग्रेस के 133 और विपक्ष के 95 सदस्य थे। उस प्रसंग में उनके द्वारा दिए गए इस वक्तव्य की चर्चा आज भी होती है, जिसमें उन्होंने चुनौती दिया था कि अगर विपक्ष के तीन सदस्य भी उनके विरुद्ध अविश्वास व्यक्त करने की पर्ची लिखकर भेज दें तो वे तुरंत त्याग पत्र दे देंगे। विपक्ष के 95 सदस्यों में एक ने भी पर्ची नहीं भेजी। इस प्रकरण में नैतिकता कुछ नाटकीय ढंग से अभिव्यक्त हुयी, लेकिन स्थायी महत्त्व की बातें कुछ और हैं, जिनमें से हम दो का संदर्भ लेंगे।

इस संदर्भ में पहली घटना ने भारत में एक नयी संसदीय परम्परा को जन्म दिया। हम जानते हैं कि ब्रिटिश अभिसमय के अनुसार विधायिका का अध्यक्ष पूरे राजनैतिक जीवन के लिए निर्दलीय हो जाता है। इसमें भारत की केंद्रीय धारा सभा के अध्यक्ष विट्ठलभाई पटेल ने यह संशोधन किया कि अध्यक्ष

केवल अपने कार्यकाल में अपने दल से अलग रहेगा। इस आधार पर उन्होंने अपने को स्वराज पार्टी से अलग कर लिया। राजर्षि टंडन ने इस परम्परा को और परिमार्जित करके यह व्यवस्था बनायी कि अध्यक्ष अपने कार्यकाल में भी दलीय सदस्यता नहीं छोड़ेगा। मार्च 1938 को संयुक्त प्रांत की विधायिका ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करके वैधानिक रूप दे दिया। आज भारत में केवल राज्य सभा के सभापति ही इसके अपवाद होते हैं, जिसका कारण यह है कि राज्यसभा के अध्यक्ष पदेन उप राष्ट्रपति भी होते हैं। निश्चित रूप से उपराष्ट्रपति का निर्दलीय रहना ही उचित है। अध्यक्ष पद पर रहते हुए टंडन जी ने एक अन्य योगदान दिया जो राष्ट्रभाषा से सम्बन्धित है। तत्कालीन भाषा अधिनियम के अनुसार सदन की भाषा अंग्रेजी थी, लेकिन उसके अपवाद के तौर पर नियम 19 की व्यवस्था थी। नियम 19 के अनुसार अध्यक्ष अंग्रेजी न जानने वाले सदस्यों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकते हैं। शिव सिंह सरोज ने सही लिखा है कि टंडन जी ने ''नियम 19 की सुई से राष्ट्रभाषा हिंदी का ऊँट निकाल लिया''। टंडन जी ने नियम 19 की व्याख्या में कहा कि इसके अन्तर्गत वही सदस्य ही नहीं हिंदी में बोल सकते हैं जो अंग्रेजी नहीं जानते, बल्कि अंग्रेजी जानने वाले सदस्य भी हिंदी और उर्दू में बोल सकते हैं। नियम 19 की इस व्याख्या से अंग्रेजी को राजभाषा बनाने वाला अधिनियम ही एक प्रकार से अप्रभावी हो गया। उस समय के अंग्रेजी अखबारों और आंग्ल भारतीय सदस्यों ने अध्यक्ष की व्याख्या की तीखी निंदा किया। मुस्लिम लीग के सदस्य भी टंडन जी की व्याख्या से सशंकित थे, क्योंकि उन्हें सही ही लगता था कि अभी तो टंडन जी ने अंग्रेजी को हटाकर हिंदी और उर्दू को रखवाया है और अगले चरण में वे उर्दू को भी हटाकर हिंदी को आत्यन्तिक राजभाषा बनवा देंगे। उन्हें यह एतिहासिक अवसर 4 नवम्बर 1947 को मिला, जब हिंदी को उत्तर प्रदेश की एकमात्र राजभाषा का स्थान मिला। टंडन जी की व्याख्या थी कि इस अधिनियम के लागू होने के बाद अब वे भी, स्पीकर होते हुए भी अंग्रेजी में नहीं बोल सकते।

राजर्षि 1946 से 1950 तक दूसरी बार विधानसभा अध्यक्ष रहे। 1948 में वे फिर प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष बने। उसी वर्ष उन्हें राजर्षि की उपाधि प्राप्त हुयी। ऐसी उपाधियाँ अपवाद नहीं हैं, लेकिन टंडन जी सम्भवतः इस उपाधि के उपयुक्त अधिकारी थे। इस कारण से ही राजर्षि एक प्रकार से उनके लिए व्यक्तिवाचक संज्ञा बन गयी है। उसी वर्ष उन्होंने संविधान सभा से त्याग पत्र दिया, क्योंकि राष्ट्रभाषा के तौर पर 'नागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिंदी' की प्रतिष्ठा अवश्य हो गयी थी, लेकिन देवनागरी के अंकों को अस्वीकार करके, रोमन अंकों को स्वीकार किया गया था। वे 1950 में आचार्य कृपालानी को हटाकर राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए लेकिन सरदार पटेल के निधन के बाद वे संगठन में कमजोर पड़ गए। 1951 में उन्होंने त्यागपत्र दिया। 1952 में वे लोकसभा पहुंचे। 1957 में वे राज्यसभा पहुँचे लेकिन अस्वस्थता के कारण उन्होंने सदस्यता छोड़ दिया और एक भूमिपुत्र की भाँति अपना अंतिम समय प्रयाग में ही बिताने का निश्चय किया। 1961 में उन्हें भारतरत्न प्रदान किया गया। 1962 में उनका निधन हुआ। राजर्षि टंडन के व्यक्तित्व के संक्षिप्त विवरण के बाद उनके कृतित्व पर संक्षिप्त चर्चा करना समीचीन होगा। सार्वजनिक जीवन की पूर्णकालिक व्यस्तता के कारण वे बहुत विस्तृत रचना-संसार नहीं छोड़ गए हैं, फिर भी वह पर्याप्त है। यह अवश्य हुआ कि परवर्ती वर्षों में वे साहित्यिक कम और बौद्धिक लेखक-वक्ता अधिकार हो गए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी और फारसी था। हिंदी एक प्रकार से उन्हें सीखना पड़ा। इसके बाद भी उनके लेखन और वक्तृता में प्रवाह, ओज और पारदर्शी निष्ठा दिखती है। उनका प्रारम्भिक लेखन बालकृष्ण भट्ट की पवित्रता 'प्रदीप' में प्रकाशित होता रहा, जिसके पीछे भट्ट जी की ही प्रेरणा भी थी। बाद में उन्होंने 'अभ्युदय' के प्रकाशन और सम्पादन का दायित्व सम्भाला, जो पहले मालवीय जी के पास था। इसके अतिरिक्त उन्होंने उस समय की पत्रिकाओं–मर्यादा और प्रकाश–में भी लिखा, जिनमें वे प्रायः अगम शरण या ए0एस0के0 नाम से लिखते थे। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि उनका साहित्यिक लेखन भी राजनैतिक ही है। इसका एक स्पष्ट कारण तो यही है कि वे स्वयं राजनैतिक

व्यक्ति थे, लेकिन एक कारण यह भी है कि तत्कालीन साहित्यिक परिवेश भी राष्ट्रवादी और सुधारवादी था। हम इस काल खंड की द्विवेदी युग के नाम से जानते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से अराजनैतिक साहित्यकारों में भी अपने साहित्य में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, समाज सुधार, राष्ट्रवादी मिथकों-महापुरुषों-मूल्यों की आवश्यकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध को स्वर दिया। टंडन जी की प्रारम्भिक कविता 1905 में "बंदर सभा" शीर्षक से "बंदर सभा" शीर्षक से 'प्रदीप' में प्रकाशित हुयी थी, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों को बंदर कहकर उपहास का पात्र बनाया था। बंदर सभा से उनका व्यंजनात्मक आशय वायसराय की परिषद से था।

राजर्षि ने हिंदी के प्रसार को ध्यान में रखकर 'हिंदी व्याकरण' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी और उन्होंने 'विवाह-पद्धति' का संस्कृत से हिंदी में स्वयं अनुवाद किया। इन दोनों पुस्तकों का उपयोग उस समय पर्याप्त हुआ। उन्होंने स्वयं अपनी पुत्री के विवाह के लिए हिन्दी में अनुवाद पुस्तक का ही प्रयोग किया। उन्होंने राणा प्रताप के प्रेरणादायी उदाहरण को श्रद्धा सुमन अर्पित करने के लिए 'एक राजपूत की कथा' लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने भीष्म पितामह, भारवि, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, विवेकानंद, सरदार पटेल और शिव प्रसाद सितारेहिंद पर भी लेख लिखे। उनके लेखों को 'राजर्षि टंडन रचनावली' में और संसद के उनके भाषणों को 'शासन पथ प्रदर्शन' में संकलित किया गया है। इन लेखों और भाषणों में उन्होंने प्रमुखतः भारत की भाषा समस्या और आर्थिक-राजनैतिक समस्या पर प्रकाश डाला है। आगे हम भी प्रमुखतः इन बिंदुओं पर ही विचार करेंगे।

18.3 राजर्षि के आर्थिक विचार

राजर्षि टंडन का राजनैतिक व्यक्तित्व इतना प्रभावी है कि प्रायः हम उनके आर्थिक विचारों को अनदेखा कर देते हैं,। प्रायः ध्यान ही नहीं दिया जाता है कि वे 1925 से 1929 की अवधि में पंजाब नेशनल के पूर्णकालिक संयुक्त सचिव थे। इसके अतिरिक्त 1930-32 के बीच उन्होंने कांग्रेस से अलग हटकर किसान सभा के माध्यम से लगानबंदी और जमींदारी-उन्मूलन का बड़ा आंदोलन भी चलाया था। उनको अलग संगठन इसलिए बनाना पड़ा, क्योंकि तत्कालीन कांग्रेस जमींदारों के विरुद्ध उस सीमा तक नहीं जा सकती थी। 1930-32 का काल विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का था। इस विशिष्ट परिस्थिति में पूरी तरह से ग्रामीण जीवन से जुड़े रहने के कारण उन्हें ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हुयी। उनका अर्थशास्त्रीय विमर्श शत-प्रतिशत गांधीवादी है, जिसे आप सर्वोदय के अध्याय में पढ़ चुके हैं। इसकी आधारभूत अवधारणा यह है कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र का भाग है, उत्पादन से अधिक महत्त्व वितरण का है, मानवीय श्रम सर्वोपरि है तथा धन और समृद्धि में अंतर है। राजर्षि की दृष्टि में मनुष्य प्रमुखतः या प्रथमतः आर्थिक प्राणी नहीं है– "मनुष्य का समाज कुत्तों और बिल्लियों के समाज से फर्क है"। दुख का विषय यह रहा कि स्वतंत्र भारत की अर्थनीति ने अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण को ही अपना आदर्श बना लिया। ऐसे ही एक प्रसंग में उन्होंने औद्योगीकरण के नैतिक मानदंड पर लोकसभा में भाषण दिया था, जिस पर नेहरू जी ने कहा कि "टंडन जी ने मारल स्टैन्डर्ड की चर्चा की। वहाँ तो उद्योगों को बढ़ाने का विषय था। वे बहक गए"। इस पर टंडन जी ने कहा..."नेहरू जी ने मेरे कथन को बहकना कहा है। जो व्यापारी लोग हैं, जिनका उद्देश्य येन केन प्रकारेण लक्ष्मी की वृद्धि करना है, वे तो नैतिकता की बात को बहकना कहते ही हैं"।

राजर्षि टंडन जी की एक सैद्धान्तिक स्थापना यह थी कि धन का उपयोग ऐसे हो, जिससे उसकी सीमांत उपयोगिता बढ़े। एक पूँजीपति के लिए हजार रुपये का कोई महत्त्व नहीं है, लेकिन एक आम आदमी के लिए एक हजार रुपेय का बहुत महत्त्व है। आर्थिक नीति का उद्देश्य आम आदमी की आवश्यकता को प्राथमिकता के आधार पर पूरा करना है। भारत की जनसंख्या विशाल है, लेकिन

दूसरी दृष्टि से जनसंख्या राष्ट्रीय शक्ति भी है। हमारा पहला लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि पहले जनशक्ति का सार्थक नियोजन हो। अतार्किक और अविचारित औद्योगीकरण ने जनशक्ति की घातक उपेक्षा किया है और भयंकर भ्रष्टाचार, अनैतिकता और असमानता को जन्म दिया है। राजर्षि ने इसे कई उदाहरणों से पुष्ट किया है। रेलगाड़ी के प्रचलन के पहले दिल्ली- कलकत्ता के बीच लाखों हरकारे, सरायवाले, घोड़ों की देखभाल करने वाले आदि अपनी आजीविका चला रहे थे। इसी तरह नल से जलापूर्ति की व्यवस्था से पहले लाखों लोग पानी ढोने का काम कर रहे थे। नयी व्यवस्था के विरुद्ध कई आंदोलन हुए। हम मान सकते हैं कि एक सीमा तक नयी व्यवस्था का आगमन अवश्यम्भावी था, लेकिन उसके अविवेकी अतिरेक पर नियंत्रण होना चाहिए। मशीनीकरण हमारी समस्याओं का रामबाण नहीं है। मशीनें मनुष्य के लिए हैं, मनुष्य मशीन के लिए नहीं। सौ लोगों को बेरोजगार करके पाँच लोगों को अमीर बनाने वाला मशीनीकरण अमानवीय है। टंडन जी का कहना था कि हमारी अर्थव्यवस्था पहले बेरोजगारी दूर करे, फिर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास करे। इसका एक उपाय स्वदेशीकरण है। टंडन जी का कहना था...."जिसका उपभोग करते हो, उसका उत्पादन करो। जिसका उत्पादन करते हो, उसका ही उपभोग करो"। उनके अनुसार यह राष्ट्रीय शर्म की बात है कि प्रसाधन सामग्री तक का आयात हो रहा है। उनकी दृष्टि में आयात का आधार आवश्यकता तो हो सकता है, लेकिन विलासिता कदापि नहीं।

स्वतंत्र भारत की अर्थनीति औद्योगीकरण पर आधारित थी। नेहरू आर्थिक विकास को यहाँ तक कि साम्प्रदायिकता और जातिवाद तक का समाधान मानते थे। उनका विश्वास था कि औद्योगिक व्यवस्था से क्षेत्र, धर्म, जाति और भाषा आदि की पुरानी पहचान नष्ट हो जाएगी। टंडन जी का कहना था कि औद्योगीकरण बाकी समस्याओं का समाधान तो नहीं है, आर्थिक समस्या तक का समाधान नहीं है। उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश का उदाहरण दिया जो चीनी मिलों की अधिकता के कारण 'भारत का जावा' कहलाता था। इसके बावजूद इस क्षेत्र की निर्धनता की स्थिति पर है कि तमाम गरीब परिवार 'गोबरी' खाते हैं, जो गोबर से ढूँढ़कर निकाला जाता है। उनकी आपत्ति यह भी थी कि शासन ने कल्याणकारी राज्य का दावा करके समाज के हर क्षेत्र में घुसपैठ करके भ्रष्टाचार भर दिया है। नेहरू ने इसे 'हाउस कीपिंग' का काम बताया था। राजर्षि का कहना था कि यह 'हाउसकीपिंग' का विचार बहुत लुभावना है, लेकिन वास्तव में सरकार में संकल्प शक्ति ही नहीं है...."आप दावा करते हैं गृहस्थी संभालने का, लेकिन आपके पैर काँपने लगते हैं"। सरकार की कमजोरी का कारण यह था कि उसमें वह नैतिक शक्ति थी ही नहीं जो गृहस्थी चलाने वाली 'बूढ़ी दादी' में होती है। उन्होंने कहा कि यह कितने आश्चर्य की बात है कि हमारी योजनाओं में वेश्यावृत्ति और मद्यपान रोकने का कोई विचार तक नहीं है।

नैतिक शक्ति के अभाव में सभी शासकीय योजनाएँ भयंकर भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ गयी हैं। उनका कहना था कि न्यायालय और पुलिस तो पुराने विभाग थे, कल्याणकारी राज्य के विचार से आपूर्ति जैसे नये विभाग भी खोल दिये गए और इन नये विभागों ने रिश्वतखोरी में सबको मात कर दिया है पहले शासन की सक्रियता कम थी इसलिए भ्रष्टाचार भी कम था। अब स्थिति यह है कि शासन ने उपभोक्ता वस्तुओं पर मूल्य नियंत्रण लागू कर दिया है। राशन की सामग्री कागज पर सस्ती कर दी गयी जो कालाबाजारी का अक्षय स्रोत बन गयी। संसद में टंडन जी ने कई बार पूरे मंत्रिमंडल को चुनौती दिया कि एक भी मंत्री यह नहीं कह सकता है कि उसने अपने उपयोग के लिए कई बार ब्लैक मार्केट से सामान नहीं खरीदा है। उनका कहना था कि आँकड़ों को सत्य की तरह प्रस्तुत किया जाता है, जबकि स्वयं खाद्य मंत्री तक इस पर भरोसा नहीं करते थे। टंडन जी का कहना था कि शासन उस सीमा तक ही हस्तक्षेप करे, जिस सीमा तक वह वास्तव में नियंत्रण कर सकती है। नीतियों से फैले भ्रष्टाचार का निर्ममता से दमन होना चाहिए। उन्होंने उदाहरण दिया कि भ्रष्टाचार के एक बड़े

आरोपी पर केवल इसलिए कार्रवाई नहीं हो रही है क्योंकि वह अस्वस्थ है। उन्होंने महाभारत के शांतिपर्व में प्रस्तुत भीष्म के विचारों को उद्धृत किया कि जो शासक सज्जनों की रक्षा नहीं कर सकता और दुष्टों का दमन नहीं कर सकता, वह नर्क का भागी है।

18.4 भारतीय संस्कृति का बौद्धिक आधार

राजर्षि टंडन भारतीय संस्कृति और राष्ट्रवाद के प्रखर प्रवक्ता थे। कांग्रेस में इस विचार के समर्थक पर्याप्त थे, लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गांधी, पटेल और डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद के निधन से इस विचारधारा का प्रभाव कम हो गया और कई बार तो उसे प्रगतिविरोधी पुनरुत्थानवाद, पोंगापंथ, प्रतिक्रियावाद, हिंदू साम्प्रदायिकता और दक्षिणपंथ कह कर उपहास का पात्र बनाया गया। 1950 के बाद भी कांग्रेस में टंडन के नेतृत्व में भारतीय परम्पराओं के समर्थकों का अस्तित्व बना रहा। यह दुष्प्रचार ही था कि राजर्षि टंडन आदि भारतीय परम्पराओं के अविवेकी अनुकरण के समर्थक थे। हम देखेंगे कि उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्रगतिशील पक्ष का ही समर्थन किया। उनकी मान्यता थी कि मूढ़ाग्रह हर समाज में और हर वर्ग में होता है। जो लोग अपने को आधुनिक कहते हैं, वे भी अपने विचार, व्यवहार, भोजन आदि में पश्चिम का ही अंधानुकरण कर रहे हैं। पश्चिम में भी तमाम अतार्किक परम्पराएँ हैं। इंग्लैंड में आज भी राजतंत्र का मिथक बनाये रखा गया है। वहाँ की संसद के पहले सत्र के प्रारम्भ में स्वीकार लालटेन लेकर तहखाने का निरीक्षण करता है, क्योंकि इतिहास में एक बार गार्ड फाक्स ने तहखाने में विस्फोटक रखकर संसद को उड़ाने का कुचक्र रचा था। इसी तरह वहाँ स्पीकर के पास अभी भी मेस (गदा) रखी जाती है। टंडन जी की धारणा थी कि हमें परम्पराओं को तर्क की कसौटी पर कसना चाहिए। प्रगतिशील परम्पराओं को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उनसे समाज अच्छी तरह से परिचित होता है। इस कारण अगर प्रगतिशील परम्पराओं के आधार पर कोई समाज सुधार किया जाए तो वह अधिक असरदार, दूरगामी और दीर्घकालिक होगा।

राजर्षि टंडन जी ने भारतीय संस्कृति में तर्कवाद को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि "जहाँ युक्ति नहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं"। यह धारणा उनकी कोई अपनी खोज नहीं थी, बल्कि पूर्णतः शास्त्र-सम्मत थी। बृहस्पति स्मृति का वाक्य है....

केवलम् शास्त्रमाश्रित्य, न कर्तव्यो विनिर्णयः।

युक्तिहीन विचारेतु धर्महानिः प्रजायते।।

इसका आशय है कि यदि केवल शास्त्र का आदेश मानकर निर्णय किया जाए और वह युक्तिहीन हो तो इसके धर्म की हानि ही होगी। टंडन जी के अनुसार ईश्वर के बाद बुद्धि ही है। ('यो बुद्धे परतस्तु सः')। इस प्रकरण में वे वेद के व्याख्याता और निरुक्त के जन्मदाता मुनि यास्क के अंतिम दिनों का उदाहरण देते थे। उनके शिष्यों ने उनसे पूछा था कि उनकी मृत्यु के बाद वे किस ऋषि के पास जाएं। इस पर ऋषि यास्क ने कहा कि तुम लोग तर्क को ही ऋषि मानना ('तर्कों वै ऋषिरुक्तः')। इसके आगे उन्होंने प्राचीन गुरुकुलों का संदर्भ भी दिया। प्रयाग में ही मुनि भारद्वाज का गुरुकुल था। उसमें दस हजार से भी अधिक छात्र थे। प्राचीन काल के सभी गुरुकुल आवासीय होते थे और कुलपति नाम ही इसलिए पड़ा क्योंकि वह इन सभी विद्यार्थियों के भोजन आवास आदि की व्यवस्था करता था। इन गुरुकुलों में विद्यार्थी गुरु के साथ रहकर ज्ञान ही नहीं, संस्कार भी पाते थे। ऐसी स्थिति में एक परम्परा यह थी कि गुरु शिष्यों का चेतावनी देता था। गुरु शिष्य से कहता था कि मेरे गुणों को अपनाओ–'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि सेवितव्यानि'–और दुर्गुण या अन्य बातों का अनुसरण मत करो–'नो इतराणि', अर्थात् सद्गुण से इतर कुछ भी स्वीकार न करो।

भारतीय परम्पराओं में बुद्धिवाद का केन्द्रीय स्थान है। टंडन जी के अनुसार हमको बुद्धि के आधार पर

मानवविरोधी परम्पराओं का या तो परिमार्जन करना चाहिए या फिर उनका परित्याग करना चाहिए। कई बार महान परम्पराओं का पतन भी हुआ। इसका एक उदाहरण कुम्भ मेला भी है। संगम के किनारे दैवीय पवित्रता की अनुभूति से हमारे ऋषियों ने यहां तपस्या और आत्मचिंतन किया। प्रयाग के संगम का यही महत्त्व है। कालांतर में यह विश्वास कर गया कि शुभ दिनों में वहाँ डुबकी लगाने मात्र से स्वर्ग प्राप्त हो जाता है। तपस्या की पवित्रता मेले की उत्सवधर्मिता में बदल गयी। प्राचीन समागम में सभाएं होती थीं, गम्भीर विमर्श होते थे। आज सब कुछ सिमटकर मेले में बदल गया। राजर्षि टंडन की व्याख्या इतनी प्रगतिशील थी कि उन्होंने कुम्भ मेले के लिए रेल विभाग द्वारा विशेष गाड़ियों की व्यवस्था का भी विरोध किया था। इसी तरह मानवविरोधी परम्पराओं का बड़ा उदाहरण अस्पृश्यता है। हमारे वहाँ 'कर्मणा वर्णः' का सिद्धांत था, जो बाद में 'जन्मना वर्णः' में बदलकर अस्पृश्यता की अमानवीय सीमा तक पहुँच गया।

राजर्षि टंडन ने अनुसार परम्पराएं समाज के पूरे एतिहासिक अनुभव को सरल ढंग से समेटतीं हैं। समाज अपनी विकास यात्रा में बहुत कुछ सीखता है, त्रुटियों का सुधार करता है। परम्पराएं इसी अनुभव को आम आदमी के जीवन में समाहित करती हैं। इसका श्रेष्ठतम उदाहरण भारतीय जीवन पद्धति, आहार, विहार और चिकित्सा पद्धति है। इस मामले में वे गांधी और विनोबा जैसे ही हैं, जिनके विचार और व्यवहार में पूर्ण तादात्म्य था। राजर्षि का निजी जीवन सात्विक और सरल था। उन्होंने शक्कर, नमक, दूध आदि को युवावस्था में ही छोड़ दिया था। दूध, रेशम और चमड़े के प्रयोग को वे हिंसक मानते थे। दवाइयों का प्रयोग भी उन्होंने अपवादतः ही किया और विनोबा की तरह ही अस्सी वर्ष की आयु प्राप्त किया उनके अनुसार यह समग्र भारतीय जीवन-पद्धति थी।

समग्र भारतीय जीवन-पद्धति में प्राकृतिक और देशी चिकित्सा पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि 'शरीर के माध्यम से ही धर्म का पालन होता हैं। उन्होंने इस विषय पर विस्तार से चर्चा किया है। इनके अनुसार भारतीय चिकित्सा पद्धति हजारों साल के लम्बे जातीय अनुभव से विकसित हुयी है। वह आम आदमी को सुलभ है। उसकी औषधियाँ हमारी वनस्पतियाँ ही हैं। वे हमारी जलवायु के अनुकूल हैं। उनके पीछे वैद्यकी की समाज सेवा की समर्पण भावना है। इन सबके बावजूद स्वतंत्र भारत में आधुनिकीकरण के नाम पर अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति थोपी गयी। राजर्षि ने इसके विरोधी में असरदार आवाज उठायी। संसद में कई अवसरों पर उन्होंने बहुत विस्तार से चिकित्सा के अंग्रेजीकरण का विरोध किया--व्यावहारिक आधार पर और वैचारिक आधार पर भी। उनके अनुसार तत्कालीन सरकार ने भारतीय पद्धतियों को प्रोत्साहित करने के स्थान पर प्रताड़ित किया है। पराकाष्ठा यह थी कि शासकीय कर्मचारियों के वेतन से अनिवार्य कटौती करके अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति को एकमात्र उपाय के तौर पर रखा गया। प्रतिरक्षण के नाम पर अंधाधुंध टीकाकरण की योजना लागू की गयी, जिसको स्वयं इंग्लैंड ने अपने नागरिकों के लिए वैकल्पिक बनाया है। अविवेकी प्रतिरक्षण और कृत्रिम औषधियों के अत्यधिक उपयोग से शरीर की प्राकृतिक प्रतिरक्षण प्रणाली ध्वस्त हो गयी, जिसके लिए फिर और सख्त दवाइयों का उपयोग होने लगा। उन्होंने ब्रिटेन के एक प्रसिद्ध डॉक्टर के वक्तव्य को उद्धृत किया कि अगर दुनिया की सभी कृत्रिम दवाइयों को समुद्र में फेंक दिया जाए तो मानव जाति का बहुत भला होगा, लेकिन समुद्री जीव समाप्त हो जाएंगे।

राजर्षि के अनुसार भारतीय स्वास्थ्य विज्ञान बहुत सरल और प्राकृतिक है। आयुर्वेद और यूनानी व्यवस्थाएं संयमित जीवन से शारीरिक तत्वों का संतुलन बनाने में विश्वास करती हैं। ऐन्द्रिकता--विशेष तौर पर स्वाद और वासना हमारे संतुलन को बिगाड़ती हैं। एक हकीम का कहना था कि व्याधि चारित्रिक पतन का प्रमाण है। स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि हम शुद्ध वातावरण में रहें और शुद्ध विचार रखें। सरकारी नीति में इन बातों को कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। शायद सरकार प्राकृतिक चिकित्सा की अवहेलना इसलिए कर रही है, क्योंकि उसमें पानी, मिट्टी सूर्य की किरण, उपवास, भाप

आदि से ही उपचार होता है, जिसमें सरकार को कोई भव्यता नहीं दिखती। देशी पद्धतियों की उपेक्षा भी इसी तरह हो रही है। उन्होंने इसी क्रम में रसायनिक उर्वरकों और पाश्चरीकरण का विरोध भी किया। रसायनिक उर्वरक कृषि का वैसा ही नुकसान कर रहे हैं, जैसा अंग्रेजी दवाइयाँ मनुष्यों का कर रही हैं। उन्होंने इन खादों को धरती की 'कामोत्तेजक दवाई' बताया, जिससे धरती की उर्वरकता तुरंत तो बढ़ जाती है, लेकिन वह थोड़े समय बाद स्थायी रूप से बंजर हो जाती है। इसी तरह पाश्चरीकरण और प्रतिरक्षण के सिद्धांत को उन्होंने अप्राकृतिक बताया। अंग्रेजी पद्धति ने जीवाणुओं का आतंक खड़ा कर दिया है। उनके अनुसार इस पद्धति ने जीवाणुओं को मारने का "हीरोहक" तरीका बना लिया है। हवा में, पत्नी में, भोजन में, मेज कुर्सी हर जगह जीवाणु ढूढ़े जा रहे हैं और मारे जा रहे हैं। इस क्रम में पुरानी बीमारियां जड़ पकड़ती जा रही हैं और नयी-नयी बीमारियाँ पैदा हो रही हैं। यह ध्यान देने वाली बात है कि स्वतंत्रता के बाद जन स्वास्थ्य योजनाओं के नाम पर राष्ट्रीय स्तर पर अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहित किया गया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंग्रेजी औषधियाँ प्रारम्भिक चरण में चमत्कारी प्रभाव डालती हैं। टंडन जी के समय में वही चरण था। सम्भवतः इसलिए उनके विचारों को कम से कम सरकार ने तो कोई महत्त्व नहीं दिया। नेहरूवादी चिंतन में भारतीय पद्धतियों को वैकल्पिक चिकित्सा व्यवस्था का स्थान भी नहीं मिल सका।

18.5 राजर्षि और राष्ट्रीय समस्याएं

राजर्षि टंडन प्रखर राष्ट्रवाद के प्रवक्ता थे। इसकी अग्नि परीक्षा विभाजन के समय हुयी। 1947 की गर्मियों के आते आते पूरी कांग्रेस अप्रत्यक्ष रूप से विभाजन के लिए तैयार हो चुकी थी। गांधी जी अपना वक्तव्य भी भूल गए कि भारत का बँटवारा उनकी लाश पर होगा। शेष नेता तो सत्ता की आहट से आकुल हुए जा रहे थे। परिणाम यह हुआ कि जिस 17 जून 1947 की कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में पाकिस्तान बनने का अंतिम निर्णय हुआ, उसमें केवल और केवल उन्होंने ही विरोध किया। विभाजन के बाद भी टंडन जी अपने विचारों पर लड़ते रहे। उन्होंने संविधान सभा में हिंदी, देवनागरी और वंदेमातरम् को स्थापित करने का प्रयास किया। हम देख चुके हैं कि हिंदी और देवनागरी लिपि पर तो वे सफल रहे, देवनागरी अंक के मामले में वे सफल नहीं हुए और बंदेमातरम् को राष्ट्रीय गीत ही बनाया जा सका। बंदेमातरम् राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा थी। कई शहीदों मे बंदेमातरम् गाते हुए फांसी का फंदा चूमा था। उससे "सुजलाम् सुफलाम्" भारत माता की आत्मिक अनुभूति होती है। इस परिप्रेक्ष्य के बाद भी बंदेमातरम् को एकमात्र राष्ट्रीय गीत का सम्मान नहीं मिला।

भारत विभाजन को स्वीकार करना किसी भी राष्ट्रवादी व्यक्ति के लिए सरल नहीं था। फिर भी राजर्षि टंडन सक्रिय रहे और उन्होंने विस्थापितों के पुनर्वास का अभियान छेड़ा। उनके प्रयास से ही पृथक पुनर्वास मंत्रालय की स्थापना हो सकी। इस दिशा में उन्होंने लोक सेवा मंडल और हिंदू रक्षा दल के माध्यम से भी काफी काम किया। लोक सेवा मंडल मूलतः पंजाब का ही संगठन था। पंजाब में उसका नेतृत्व लाला अचिन्तराम कर रहे थे। टंडन जी की माँग थी कि विस्थापितों के पुनर्वास में 'सौदेबाजी' और 'ओछे बनियापन' का प्रदर्शन सरकार न करे। वास्तव में स्वतंत्रता की कीमत विस्थापितों ने ही चुकायी है, शेष देशवासियों ने वो स्वतंत्रता का लाभ ही लिया है। विस्थापितों ने अमानवीय यातनाएं सही हैं। टंडन जी ने संसद में कई बार पूरी समस्या को उठाया। उनका कहना था कि क्षतिपूर्ति-कोष को बढ़ाया जाए। कम से कम क्षतिपूर्ति के छोटे मामलों में पूरा भुगतान हो, भले ही बड़े दावों को कम कर दिया जाए। आवश्यकता हो तो इसके लिए अलग से कर लगाया जाए। पाकिस्तान में पहले से काम कर रहे आर्यसमाज और सिक्खों के बड़े ट्रस्टों को भी मुआवजा दिया जाए। पाकिस्तान जाने वाले लोगों की निष्क्रांत सम्पत्ति पर विस्थापितों को काबिज करवाया जाए। जो विस्थापित इन सम्पत्तियों का उपयोग कर रहे हैं, उनमें फिलहाल उस सम्पत्ति का भुगतान या किराया न माँगा जाए। उस समय

बहुत परिवार पाकिस्तान चले गए थे, लेकिन उन्होंने अपने परिवार के एक सदस्य को सम्पत्ति पर अधिकार बनाये रखने के लिए छोड़ दिया रखा था। भारत सरकार ने बहुत जल्दी ही निष्क्रांत सम्पत्ति में नये मामलों के जोड़ने की व्यवस्था समाप्त कर दिया। टंडन जी ने इसका विरोध किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि टंडन जी के प्रयास से विस्थापितों का पुनर्वास संतोषजनक ढंग से हो सका।

विभाजन के बाद काश्मीर, गोआ, तिब्बत आदि के मामलों पर भी टंडन जी ने सक्रिय हस्तक्षेप किया। काश्मीर पर हुए कबायली आक्रमण के जबाव में भारतीय सेनाएं मीरपुर और पुंछ के करीब पहुँचकर भी रुक गयी थीं और उन्होंने अपने आप युद्ध विराम रेखा बना लिया था। टंडन जी को इस बात का दुख था कि भारतीय सेनाओं पर भारत सरकार ने ही लगाम लगा दिया था। उनके अनुसार काश्मीर में जनमत संग्रह की आवश्यकता। आधार और औचित्य नहीं रह गया है। भारत सरकार की यह प्रवृत्ति भी बुरी है कि वह विधायन के हर काम में यह अवश्य लिखती हैं कि यह जम्मू काश्मीर में लागू नहीं होगा। उन्होंने काश्मीर के शरणार्थियों को भी विस्थापितों का दर्जा देने की माँग की। सरकार इस माँग को इस तकनीकी आधार पर निरस्त कर रही थी कि काश्मीर के वे क्षेत्र पाकिस्तान के भाग नहीं हैं। उन्होंने काश्मीर की तरह तिब्बत का मामला भी उठाया। चीन ने उस देश पर कब्जा कर लिया, जिसके पास टंडन ज़ी के शब्दों में "सेना नहीं है, जो किसी को सताता नहीं है, ...जिसकी कोई बड़ी जनसंख्या भी नहीं है, एक अलग टुकड़े में छोटा सा देश जिसकी कोई बहुत आमदनी भी नहीं है, जिससे संसार के किसी भी देश को भय नहीं था"। भारत सरकार ने चीनी सरकार से 1950-51 में स्पष्टीकरण माँगा था। इसं स्पष्टीकरण की भाषा भी वैसी ही आक्रामक थी, जैसी चीन की तिब्बत नीति थी। इन पत्रों में चीन ने उल्टे भारत पर ही दूसरों के इशारे पर चलने का आरोप मढ़ दिया। टंडन जी ने इसे चीन की 'गुंडागर्दी' कहा था। उस समय उनके विचारों को अनदेखा कर दिया गया, लेकिन 1962 के चीनी हमले के बाद पूरे राष्ट्र ने उनके विचारों की दूरदर्शिता को समझा।

18.6 धार्मिक व्यक्तिगत विधि और धर्मान्तरण

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सभी धर्मों की व्यक्तिगत विधियों का महत्त्वपूर्ण मामला आया। हिन्दू व्यक्तिगत विधियों में परिवर्तन का प्रश्न नेहरू की आधुनिकतावादी सोच का अहम भाग था। मुस्लिम विधियों के मामले में तो वे पूरी तरह असफल रहे, लेकिन हिंदू व्यक्तिगत विधियों में कई चरण में बदलाव हो सका। इस मामले में राजर्षि टंडन आदि की छवि प्रतिक्रियावादी जैसी बना दी गयी है। इसलिए आवश्यक है कि इन प्रश्नों पर राजर्षि के विचारों को संक्षेप में समझा जाए। राजर्षि ने 1955-56 में हिंदू उत्तराधिकार और विवाह-विच्छेद विधेयकों पर अपने संशोधन प्रस्तावित किये थे। उत्तराधिकार विधेयक में वे चाहते थे कि 'पुत्री' के पहले अविवाहिता जोड़ जाए और मृतक की माँ और विधवा को उत्तरादिकार के क्रम में प्रथम वर्ग में रखा जाए। विवाह विच्छेद के मामले में उनका प्रस्ताव था कि इसकी व्यवस्था विशेष विवाह विधि में की जाए और सामान्य विवाह में यह व्यवस्था न रहे।

उत्तराधिकार विधेयक में पुत्री को उत्तराधिकार की प्रथम श्रेणी में रखा गया था, जबकि राज्यसभा ने प्रवर समिति के प्रतिवेदन को निरस्त करके माँ को इस श्रेणी से हटा दिया था। राजर्षि की आपत्ति यह थी कि इससे हिंदू परिवार में विखण्डन होगा। विधेयक को ऐसे प्रस्तुत किया गया था जैसे इससे पुत्री को अधिकार मिलेगा यानी यह स्त्री समानता का प्रश्न है। राजर्षि का कहना था कि यह लैंगिक अथवा आर्थिक न्याय का प्रश्न नहीं है। उनके अनुसार भारत के पारम्परिक समाज में महिलाओं की उपेक्षा नहीं हुयी है। इसका एक बड़ा उदाहरण यह है कि यूरोप में महिलाओं को मताधिकार के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी और फिर भी वहाँ के कई देशों को मताधिकार नहीं मिला। दूसरी ओर भारत में बिना किसी विवाद के सार्वभौम वयस्क मदाधिकार लागू हो गया। उत्तराधिकार से पुत्री को वंचित नहीं किया जा रहा है। पुत्री की दो स्थितियाँ होंगी–(1) अविवाहित–जिस स्थिति में उसे पुत्र के समान भाग

मिलेगा और (2) विवाहित–जिस स्थिति में, टंडन जी के विचार से वह पत्नी और माँ के रूप में उत्तराधिकार की प्रथम श्रेणी में हिस्सा प्राप्त करेगी।

हिंदू पारिवारिक पद्धति में माँ का शीर्ष स्थान है। तैत्तरीय उपनिषद में पहले माँ को देव कहा गया है (मातृ देवो भव), उसके बाद ही पिता का स्थान है। परिवार में पत्नी का भी महत्त्व है। विधवा की स्थिति में उसे आर्थिक स्वतंत्रता और संरक्षण की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। इसीलिए अधिकांश समुदायों में यह प्रथा है कि पति के अंतिम संस्कार के बाद सभी लोग विधना को अपनी क्षमता भर कुछ धन अवश्य भेंट करते हैं। उत्तराधिकार अधिनियम में प्रथम श्रेणी से माँ को तो हटा ही दिया गया और विधवा का हिस्सा काटकर पुत्री को दे दिया गया है। उन्होंने इन संशोधनों के सम्भावित दुष्परिणामों का विवरण भी दिया। प्रस्तावित व्यवस्था में विवाहित पुत्री तो अवश्य ही संयम रखेगी, लेकिन उसके ससुराल की ओर से दबाव पड़ेगा। फिर हिंदू परिवारों में विवाह के समय ही पुत्री को स्त्रीधन देने की व्यवस्ता कर दी जाती है। धनाढ्य परिवारों में हो सकता है कि उसके बाद भी विवाहित पुत्री को पिता बड़ी राशि दे सके या वसीयत में अलग से व्यवस्था कर दे लेकिन आम परिवारों की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं होती। फिर प्रायः पुत्री दूर रहती है और ऐसे में विशेष रूप से अचल सम्पत्ति के बँटवारे में बहुत मनोमालिन्य होगा। कई मुस्लिम समुदायों में यह प्रथा है कि विवाहित पुत्री को सम्पत्ति में हिस्से के बदले कुछ नगद दे दिया जाता है। हिंदुओं में विवाह के बाद ऐसी परम्परा नहीं है।

1955 में हिंदू तलाक विधेयक लोक सभा में प्रस्तुत किया गया था। उस पर टंडन जी का यह कहना था कि परिवर्तन तो होना ही चाहिए, क्योंकि समय और अवस्था अर्थात् परिस्थिति बदलने से धर्म भी बदलता है। ("समय भेदेन धर्म भेदः। अवस्था भेदेन धर्म भेदः।") हिंदू समाज में इसीलिए लगभग सौ स्मृतियाँ लिखी जा चुकी हैं। उनका मानना था कि वर्तमान संसद एक नयी स्मृति का निर्माण कर रही है, जिसका उसे अधिकार भी है। प्रश्न यह है कि परिवर्तन की कसौटी क्या होगी। उनके अनुसार स्वयं शास्त्र कहते हैं कि केवल शास्त्र के आधार पर निर्णय नहीं होना चाहिए ("केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः")। ऋषियों-मुनियों में भी मतैक्य नहीं होता ("नैको मुनिर्यस्य मतिर्भिन्ना")। निर्णय की कसौटी केवल और केवल युक्ति ही हो सकती है, चाहे वह किसी बच्चे की ओर से आयी हो। ("युक्तियुक्तं बचो ग्राह्यम, बालादपि शुकादपि")।

इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर यह स्वाभाविक है कि तलाक पर विचार करते समय हम समय, परिस्थिति आदि का तार्किक विश्लेषण करें। हिंदू विवाह एक पवित्र संस्कार (सैक्रामेंट) है। यह व्यवस्था शेष समुदायों से इनती भिन्न है कि हिंदू व्यवस्था में तलाक के लिए शब्द नहीं है और अन्य व्यवस्थाओं में पतिव्रत के लिए सटीक शब्द नहीं है। (पतिव्रत के लिए सी० एफ० एंड्रूज ने चैस्टिटी का प्रयोग किया है।) इसमें वासना का प्राधान्य नहीं है, जिसके लिए पश्चिमी सभ्यता में कहा जाता है–"वी लव बट व्हाइल वी मे' (हम जब तक कर सकेंगे, प्रेम करेंगे)। हिंदू समाज के कुछ दलित वर्गों में तलाक की प्रथा अवश्य है, लेकिन उसे भी उस समाज में ठीक नहीं माना जाता। कबीर और रैदास की वाणियों में इसकी निंदा की गयी है। यह ठीक है कि समय और परिस्थितियों के अनुसार तलाक की व्यवस्था आपत्धर्म और अपवाद की तरह होनी चाहिए, लेकिन इसका प्राविधान विशेष विवाह अधिनियम में होना चाहिए, हिंदू विवाह अधिनियम में नहीं।

अभी तक हमने उत्तराधिकार और तलाक जैसे प्रसंगों पर विचार किया, जिनका धर्म से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। टंडन जी की एक बड़ी चिन्ता धरम परिवर्तन को लेकर भी थी, जिसका धर्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उन्होंने 1904 में इसाई मिशनरियों के धर्म-परिवर्तन अभियान का विरोध किया था और गौरी पाठशाला की स्थापना किया था। इस प्रश्न पर उनके विचार समय के साथ और प्रखर ही हुए। स्वतंत्रता के बाद उन्होंने इन मिशनरियों की गतिविधियों पर कई बार समाज और सरकार को जागरूक

किया। ध्यान देने वाली बात है कि यहाँ भी उनका विरोध युक्तियुक्त ही है। उदाहरणतः उन्होंने संविधान प्रदत्त धर्म प्रचार के अधिकार का समर्थन ही नहीं किया, बल्कि विवेकपूर्ण धर्म-परिवर्तन तक का समर्थन किया। सरकार से तो उनकी अपेक्षा मात्र इतनी थी कि धर्म-परिवर्तन खुले और स्पष्ट रूप में हों, क्योंकि मिशनरियों पर आरोप था कि वे धर्म-परिवर्तन में हर घटिया साधन के प्रयोग से परहेज़ नहीं करते थे। इसके लिए उन्होंने तीन सुझाव दिए–(1) धर्म-परिवर्तन की इच्छा करने वाला व्यक्ति पूर्व सूचना दे, (2) धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया सक्षम प्राधिकारी के सम्मुख पूरी की जाए और (3) ऐसे व्यक्तियों का रजिस्टर बनाया जाए। इन तीन व्यवस्थाओं से मिशनरियों की षड्यंत्रकारी गतिविधियों पर लगाम लगती। बात यह है कि भारत एक जनतांत्रिक और धर्म-निर्पेक्ष राष्ट्र है, इसलिए खुफिया तरीके से धर्मान्तरण करवाने का कोई औचित्य नहीं दिखता।

भारत के आदिवासी क्षेत्रों में मिशनरियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सहयोग से घुसी थीं। पूरे ब्रिटिश शासन में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के धार्मिक अनुषांगिक संगठन की भूमिका ही निभाई। स्वाभाविक था कि स्वतंत्र भारत का प्रखर राष्ट्रवाद इस पर प्रहार करता, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। कांग्रेस में राजर्षि जैसे प्रखर राष्ट्रवादी कम ही थे। फिर भी उन्होंने बहुत तर्कसंगत ढंग से मिशनरियों के प्रयासों पर प्रकाश डाला। इस प्रकरण में उन्होंने प्रख्यात मानवशास्त्री–वैरियर एल्विन के विचारों का सहारा लिया। डॉ0 एल्विन ने दिखाया था कि मिशनरियाँ विदेशी सरकारों की एजेंट की तरह काम करती हैं। हालैंड की मिशनरियाँ जिन प्रकार भारत में धर्म प्रचार कर रही हैं, वैसा वे अपने देश में भी नहीं कर सकती हैं। वे शिक्षा और स्वास्थ्य सेवा के नाम पर जाल फैलाती हैं। उनके पास अपार विदेशी धन है, जिसके सहारे वे कर्ज, आर्थिक सहायता या नौकरी देकर भी धर्मान्तरण करवाते हैं। कई बार वे झाँसा देने के लिए हिंदू साधुओं का नाम और वेश रख लेते हैं। वे आदिवासियों और दूरस्थ देशवासियों पर विशेष नजर रखते हैं। टंडन जी के अनुसार "अस्पृश्य भाई उनके खुराक हैं"। इसमें सन्देह नहीं कि हिंदू समाज को अपनी बुराइयाँ दूर करने के लिए "साहस" का प्रदर्शन करना होगा, लेकिन इस आधार पर विदेशी शक्तियों को भारत में घुसपैठ करने का अवसर नहीं मिलना चाहिए।

18.7 राष्ट्रभाषा हिंदी, देवनागरी लिपि और अंक

अध्याय के अंत में अब हम राष्ट्रभाषा की समस्या पर विचार करेंगे, जो राजर्षि के जीवन का मिशन था। यह प्रश्न पूर्णतः राजनैतिक है। इसका प्रमाण भारत में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का माध्यम बनाने वाले मैकाले के नीति-वक्तव्य में मिलता है। उसने स्पष्ट कहा था कि अंग्रेजी भाषा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अस्त्र, आधार और औचित्य है। उसको आशा थी कि इस भाषा में 'मूर्तिपूजकों का धर्म' निर्बल हो जाएगा। अंग्रेजी में शिक्षित भारतीय 'भूरे साहब' बन जाएंगे। इस तरह यह भी स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रवाद को भी अपनी अर्थवान अभिव्यक्तियों के लिए राष्ट्रभाषा की आवश्यकता थी। बंकिम चन्द्र चटर्जी, केशवचंद्र सेन आदि ने 1860 के आसपास ही एक सक्षम राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसके लिए हिंदी की अर्हता की राष्ट्रव्यापी स्वीकृति के लिए एक आंदोलन जैसा माहौल बना दिया था। हिंदी भारतीय राष्ट्रवाद के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह इसी से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक चरण में तो हिंदी के पक्ष में महाराष्ट्र, बंगाल और गुजरात से ही बड़े अभियान चलाए गए। इसके साथ ही भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय से हिंदी के परिष्कार का प्रयास शुरू हुआ, जो महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में उत्कर्ष पर पहुँचा। राजर्षि टंडन द्विवेदी युग में सक्रिय हुए। उन्होंने भारत की भाषा समस्या के समाधान का एतिहासिक प्रयास किया।

भारत की भाषा समस्या भारत की विशालता, भाषाई भिन्नता और एतिहासिक परिस्थितियों के कारण बहुत जटिल और स्पष्टतः साम्प्रदायिक हो गयी थी। आधुनिक युग में यह समस्या और विकट हो गयी, क्योंकि संचार साधनों और छापेखानों के विकास के कारण एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग तैयार हो

गया था। सरकारी काम के लिए भी भाषा का महत्त्व बढ़ गया था। अंग्रेजों ने 1837 में इस विषय पर एक महत्त्वपूर्ण निर्णय करते हुए बिहार और वर्तमान उत्तर प्रदेश में फारसी की जगह पर उर्दू को सरकारी भाषा बना दिया। धारणा यह थी कि उर्दू आम जनता की भाषा है। धीरे-धीरे हिंदी ने उर्दू के इस दावे को चुनौती देना शुरू किया, जिसके परिणाम स्वरूप 1871 में बिहार में और 1900 में संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में हिंदी को भी उर्दू के बराबर का अधिकार मिल गया। संयुक्त प्रांत में हिंदी के आंदोलन का नेतृत्व मालवीय जी ने किया था और उन्हीं की प्रेरणा से राजर्षि ने इस आंदोलन को अभूतपूर्व ढंग से आगे बढ़ाया।

यह सच है कि हिन्दी-उर्दू विवाह को अंग्रेजों ने ही इनता विषाक्त बना दिया ता। भाषा सीधे सरकारी नौकरी से जुड़ गयी। फिर भी इसका एतिहासिक परिप्रेक्षय महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में हमें इसका संज्ञान अवश्य लेना चाहिए। मध्ययुग से ही खड़ी बोली का एक रूप हिन्दवी, हिंदी और दक्खिनी हिंदी के नाम से विकसित हो रहा था। दक्षिण में उसे मुस्लिम ले गए थे। इसका प्रचुर साहित्य तैयार हो चुका था। आदिनाथ और गोरखनाख जैसे नाथपंथी संतों ने इसमें विशाल साहित्य बना लिया था। मुगल शासकों के अंतिम दौर में इस भाषा का एक रूप उर्दू-ए-मुअल्ला के नाम से विकसित हुआ, जिसमें प्रचलित हिन्दवी को अरबी फारसी से भर दिया गया था। इस उर्दू को स्वतंत्र भाषा नहीं माना जा सकता था, क्योंकि इसके क्रियापद हिंदवी (या वर्तमान हिंदी) के ही थे। अरबी फारसी की तस्तालीक लिपि को अपनाने के कारण यह उर्दू अरबी फारसी के और करीब चली गयी। अरबी फारसी से भरे होने के कारण यह उर्दू हिंदी भाषी क्षेत्रों में स्वीकार नहीं हो सकती थी और अहिंदी भाषी क्षेत्रों में तो और भी अस्वीकार्य होती । मुगलकाल में इसे जनता पर थोपा गया और अंग्रेजों ने इसमें अधिक अड़चन नहीं डाली। उन्होंने अलग से अंग्रेजी की अहमियत बना दिया। इस तरह भारत की भाषा समस्या और जटिल हो गयी। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भाषा होने के नाते भारतीय राष्ट्रवादी भी अंग्रेजी को अस्वीकार नहीं कर सकते थे। अरबी-फारसी से भरी हुई उर्दू के पक्ष में केवल यही तर्क था कि इसके भिन्न रूपों को मुस्लिम शासकों ने प्रोत्साहित किया था। भारतीय राष्ट्रवाद ने उर्दू, अरबी, फारसी के आधिपत्य को चुनौती देना शुरू किया। प्रारम्भिक पीढ़ी के सभी राष्ट्रवादी नेता उर्दू और फारसी माध्यम में थोड़ी पढ़ाई तो कर ही चुके थे। स्वयं टंडन जी फारसी के प्रेमी थे। उन्हें हाफिज और रूमी विशेष प्रिय थे और उर्दू में अकबर इलाहाबादी। प्रश्न निजी ज्ञान और दिलचस्पी का नहीं था, बल्कि यह था कि भारतीय जनता के लिए कौन-सी भाषा अधिक उपयुक्त है।

राजर्षि टंडन की दृढ़ मान्यता थी कि राष्ट्रभाषा देवनागरी में लिखी हुयी हिंदी ही हो सकती है। वे सामान्य बोल चाल में आये अरबी, फारसी, तुर्की या उज्वेक शब्दों को स्वीकार करते थे, लेकिन मुगल काल में प्रचलित भाषा के सायास फारसीकरण को कम से कम राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने भाषा के तीन अंगों पर विस्तृत विमर्श किया है। ये हैं लिपि, शब्दावली और अंक। हम इन तीनों के मुख्य बिंदुओं को देखेंगे। हिंदी की लिपि संसार की सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि है। मोनियर विलियम्स ने लिखा था कि भारतवासी इस लिपि पर सही ही गर्व करते हैं और यहाँ तक कि उसे देवताओं की देन (देवनागरी) मानते हैं। शार्टहैंड के आविष्कारक आइज़क पिटमैन ने स्वीकार किया है कि उन्होंने देवनागरी के आधार पर ही शार्टहैंड का आविष्कार किया है। पाली से यह तिब्बत तक गयी है। संस्कृत की लिपि होने के कारण यह द्रविड़ लिपियों के अलावा थोड़े परिवर्तन के साथ लगभग पूरे भारत में समझी जा सकती है। कई संयुक्त ध्वनियाँ केवल इसी लिपि में आ सकती हैं, इसलिए तमाम भारतीय भाषाओं में परम्परा है कि संस्कृत के उद्धरण देवनागरी में ही दिये जाते हैं। राजर्षि का कहना था कि एक भी ऐसा तर्क नहीं है, जिसके आधार पर देवनागरी भारत की राष्ट्रीय लिपि के अपने आत्यन्तिक अधिकार को किसी अन्य लिपि के साथ बाँटना चाहे।

राष्ट्रभाषा के तौर पर हिंदी की शब्दावली कहीं से कमजोर नहीं है। उनका मानना था कि हिंदी संस्कृत

की तद्भव है, इसलिए उसकी शब्दावली पर्याप्त है। फिर आवश्यकतानुसार प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर इसमें नये परिभाषिक शब्द गढ़े जा सकते हैं। कई बार उनके विरोधी उनकी हिंदी को "परंतु हिंदी" कहकर उपहास का विषय बनाते थे, जो कि सत्य नहीं था। राजर्षि ने यह आरोप लगाने वाले बंगाली सांसद को जवाब दिया था कि उनकी बंगाली भाषा कहीं अधिक 'परन्तु हिंदी' है। यह सत्य है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं में संस्कृत का प्रभाव अधिक है। राजर्षि का कहना था कि भाषा के कई प्रयोग होते हैं और उसी हिसाब से शब्दावली बदल जाती है। आम बोलचाल में देशज और तद्भव की बहुलता होगी जबकि पुरोहित, वैज्ञानिक और विधिवेत्ता की शब्दावली तत्सम प्रधान होगी। आम बोलचाल की भाषा को लेकर कोई समस्या नहीं है, लेकिन बौद्धिक उपयोग की शब्दावली का कोई सुसंगत आधार होना चाहिए। भारतीय संविधान के भाषाई प्राविधान अनुच्छेद 343 से 351 तक उल्लिखित हैं। इसमें स्पष्ट व्यवस्था है कि तकनीकी शब्दावली का प्रमुख आधार संस्कृत ही होना चाहिए। तकनीकी शब्दावली के निर्माण में राजर्षि की बड़ी भूमिका रही है, जिससे उनके शब्दावली सम्बन्धी विचार स्पष्ट होते हैं। हिंदी साहित्य सम्मेलन के शब्दकोष के निर्माण का दायित्व उनका ही था। विधान सभा के अध्यक्ष पद पर रहते हुए उन्होंने फिर हिंदी की इस क्षमता का विकास किया। अंत में 1956 में संसद की हिंदी पर्याय समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने फिर इस बौद्धिक आंदोलन को आगे बढ़ाया। इस समिति के प्रतिवेदन को उन्होंने नवम्बर 1956 में लोकसभा में प्रस्तुत किया था, जो लोकसभा में उनका अंतिम भाषण था। इतने बड़े कार्यों में कहीं भी उन्होंने संकीर्णता का परिचय नहीं दिया। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने बौद्ध साहित्य से और अंग्रेजी से भी सहायता लिया। उनके प्रमुख सहयोगी राहुल सांकृत्यायन बौद्ध साहित्य के विशेषज्ञ थे। विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है कि जब संविधान का हिंदी प्रारूप टंडन जी को प्राप्त हुआ तो वे उसमें 'एतद्द्वारा' जैसे अन्ययों के आधिक्य से क्षुब्ध हो गए थे। उन्होंने राहुल जी से आग्रह किया था कि इसे व्यवहारिक और सरल बनाया जाए। यह काम दिन-रात लगकर किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप संविधान की हिंदी प्रवाहपूर्ण प्रतीत होती है।

लिपि और शब्दावली के बाद भाषा का तीसरा भाग अंक हैं। संविधान में रोमन अंकों को "भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप" बताकर स्वीकृत किया गया। रोमन अंकों को इसलिए भी स्वीकार किया गया क्योंकि महालेखाकार जैसे वित्तीय संगठनों को अंक पद्धति बदलने से असुविधा होती। इस मामले में टंडन जी को संविधान सभा में एक मत से पराजित होना पड़ा। वे रोमन अंकों को हटाकर भारतीय अंकों को स्थापित करना अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य मानते थे। संसद और संविधान सबा में इस मामले पर उनको असाधारण दबाव झेलना पड़ा। अधिकांश नेताओं का मानना था कि अंकों से क्या अंतर पड़ता है और वैसे भी रोमन अंक भारत से ही अरब होते हुए यूरोप पहुँचे थे। टंडन जी का कहना था कि हम यूरोप में परिवर्तित अंकों को क्यों स्वीकार करें, जबकि हमारे पास अपने देश में ही विकसित मूल अंक हैं? उनको इसमें कोई आपत्ति नहीं थी कि अंग्रेजी के साथ रोमन अंक प्रयुक्त हों, लेकिन जहाँ देवनागरी का प्रयोग हो वहाँ रोमन अंक को क्यों थोपा जाए? संविधान के इस प्राविधान की व्याख्या के लिए उन्होंने विधि मंत्रालय की सहायता भी लिया। समस्या यह थी कि मौलाना आजाद के नेतृत्व में शिक्षा मंत्रालय कम से कम अंकों के मामले में हिंदी को हटाने के लिए कटिबद्ध था। टंडन जी ने ऐसे हर प्रयास का विरोध किया। ऐसा एक प्रयास टाइपराइटर के वर्ण-पटल के मामले में किया गया। हिंदी वर्ण-पटल में रोमन अंक डाल दिए गए। उन्होंने रोमन अंक को "देश का कलंक" बताया और प्रांतीय सरकारों को प्रेरणा दिया कि वे राष्ट्रभाषा के सावयविक सौंदर्य को बिगाड़ने वाले इस प्रयास को ठुकरा दें। उन्होंने ध्यान दिलाया कि नागरी अंक हिंदी में ही नहीं, गुजराती, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं की लिपियों में भी प्रयुक्त होते हैं। रोमन अंकों के द्वारा भारतीय भाषाओं और इस प्रकार भारत राष्ट्र की आधारभूत एकता पर आक्रमण किया जा रहा है।

राष्ट्रभाषा हिंदी, नागरी लिपि और अंकों के लिए राजर्षि के प्रयास पराकाष्ठा पर रहे। हमें याद रखना चाहिए कि 1900 में उर्दू हिंदी को बराबरी तक का दर्जा देने को तैयार नहीं थी। 1926 में कांग्रेस के कानपुर अधिवेशन में राजर्षि केवल हिंदुस्तानी का प्रस्ताव पारित करवा पाए थे और उसका भी बहुत विरोध हुआ था। व्यवहार में कांग्रेस जैसा राष्ट्रवादी संगठन भी अंग्रेजी, उर्दू और हिंदुस्तानी के आगे हिंदी को स्वीकार नहीं कर पाता था। यहाँ तक कि स्वयं उनको 1937 में शुरू हुए विधानसभा अध्यक्ष के अपने कार्यकाल में अधिकांश काम उर्दू में करना पड़ा। इस बीच उनके नेतृत्व में हिंदी का माहौल बनता रहा। जनता में हिंदी के लिए प्रबल भावना भर चुकी थी। ऐसी स्थिति में हिंदी विरोधियों ने 1930 के हिंदी के लिए प्रबल भावना भर चुकी थी। ऐसी स्थिति में हिंदी विरोधियों ने 1930 के आस-पास हिंदुस्तानी का अवरोध खड़ा किया। इस अवरोध के टूटने और संविधान द्वारा राष्ट्रभाषा हिंदी और नागरी को स्वीकार करने के बाद मौलाना आजाद के नेतृत्व में हिंदी को कूटनीतिक तरीके से परास्त करने का प्रयास किया गया। अब हम इन दोनों हिंदी-विरोधी प्रयासों की चर्चा करेंगे।

18.8 हिंदुस्तानी और हिंदी

वास्तव में हिंदी के विरोध में खड़ी की गयी हिंदुस्तानी कोई भाषा ही नहीं था। गिलक्राइस्ट जैसे अंग्रेज भाषाविदों में 'बांटो और राज करो' की नीति के अन्तर्गत् हिंदवी को 'हिंदुई' नाम देकर हिन्दुओं से जोड़ दिया और उर्दू से प्रभावित बोल चाल की भाषा को हिंदुस्तानी नाम दिया। लम्बे समय तक फारसी और उर्दू ने हिंदी को अपने बराबर भी बैठने नहीं दिया। हिंदी को बराबरी तक आने के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ी। नामवर सिंह ने सही सवाल पूछा है कि जब 1900 के पहले हिंदी उर्दू के बराबर भी नहीं थी, उस समय अलीगढ़ आंदोलन, अंजुमन तरक्की-ए-उर्दू और उर्दू डिफेंस एसोसियेशन क्यों सक्रिय थे? यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उत्तर भारत में मुस्लिम समुदाय सभी बौद्धिक और सरकारी नौकरियों में कम से कम विभाजन तक अपनी जनसंख्या के अनुपात से बहुत अधिक और कहीं-कहीं तो 50% तक था। फ्रांसिस राबिन्सन ('मुस्लिम सेपरेटिज्म इन यूनाइटेड प्राविन्स') और पॉल ब्रास ('लैंग्वेज, रिलीजन एंड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया') ने बहुत प्रामाणिक रूप से यह सिद्ध किया है कि उर्दू की राजनीति समानता की नहीं प्रभुता की थी।

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही यह साफ होने लगा था कि जागृत भारत में प्रबल जनाकांक्षाओं के कारण हिंदी ही मुख्यधारा की भाषा होगी। ऐसी स्थिति में कुछ उर्दू समर्थकों ने हिंदुस्तानी का समर्थन शुरू कर दिया गया। कहा गया कि यह हिंदी-उरदू का समन्वित रूप है और इसे देवनागरी और फारसी लिपि में लिखा जा सकता है। 1930 के आसपास कांग्रेस के कई नेता भी इसका समर्थन करने लगे, क्योंकि उनको लगता था कि इस तरह वे गंगा जमुनी तहजीब के ताने बाने को मजबूत करके मुस्लिम लीग को कमजोर कर सकेंगे। इसके समर्थन में काका कालेलकर, जमनालाल बजाज, ड॰ राजेंद्र प्रसाद, पंडित सुंदरलाल और ताराचंद जैसे शीर्ष नेता आ गए। 1937 में नागपुर में गांधी जी ने इसी मसले पर उर्दू के 'हमारी जुबान' के सम्पादक मौलवी अब्दुल हक से वार्ता किया। उस समय तक गांधी 'हिंदी-हिंदुस्तानी' की बात करते थे। उर्दू के समर्थक हिंदी शब्द को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अब्दुल हक ने इस वार्ता की असफलता के बाद गांधी पर तीखा हमला शुरू कर दिया। उन्होंने लिखा..."गांधी से रिया (फरेब) की नकाब उतर गयी"। जल्दी ही गांधी ने अब्दुल हक से वैसा ही समझौता कर लिया, जैसा सन् 1944 में उन्होंने जिला को "कायदेआजम' मानकर किया था। स्थिति यह हो गयी कि अब गांधी जी को भी हिंदी नाम से चिढ़ हो गयी। वे यह भी कहने लगे कि जो उर्दू लिपि नहीं जानता वह आधा हिंदुस्तानी ही है। गांधी के इस मत परिवर्तन से हिंदी आंदोलन को जबर्दस्त फटका लगा। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास हिंदी के विरोध में आ गए।

इतिहास का यह एक निर्णायक क्षण था, जब राजर्षि टंडन ने कांग्रेस के भीतर रहकर भी गांधी से सीधे टक्कर ले लिया। राजर्षि ने भाषा और लिपि के प्रश्न पर किसी समझौते से मना कर दिया। उनके नेतृत्व में गांधी जी की भाषा नीति परास्त ही नहीं हुयी बल्कि समाप्त सी हो गयी। बाद में मौलाना आजाद ने संविधान की स्पष्ट व्यवस्था के बाद भी उर्दू को हिंदुस्तानी और फिर हिंदुस्तानी को हिंदी के नाम से शासकीय संरक्षण दिया। राजर्षि टंडन का कहना था कि हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू और फारसी हिंदी का हक मार रहे हैं। यह कृत्रिम भाषा जबर्दस्ती थोप दी ज़ाए तो भी नहीं चलेगी। उन्होंने हिंदुस्तानी में संविधान के अनुवाद का उदाहरण दिया, जिस पर भारी पैसा लगाया गया, लेकिन पूरी तरह बेकार सिद्ध हो गया। हिंदुस्तानी के नाम पर किस तरह मजाक किया गया, इसका एक और उदाहरण 1944-45 में बिहार के हिंदी रीडर का है, जिसमें दशरथ को बादशाह, राम को शहजादा और सीता को बेगम कहा गया था। राजर्षि को आपत्ति यह थी कि यह काम उस हिंदुस्तानी के नाम पर किया जा रहा है, जिसको हिंदी के स्थान पर राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव कांग्रेस जैसा राष्ट्रवादी संगठन कर रहा है।

अगर राजर्षि का प्रयास असफल रहता तो स्वतंत्र भारत में हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू राष्ट्र भाषा बन जाती और लिपि उसका आधा हिस्सा रहता। यह कोई कल्पना नहीं है। 1944 तक ऐसा माहौल बन गया था कि हिंदुस्तानी ही विजयी होगी। हिंदुस्तानी और उर्दू की कोशिशें स्वतंत्र भारत में भी हुयीं लेकिन तब तक हिंदी और नागरी की एकाधिकारिक संवैधानिक स्वीकृति हो गयी थी। हिंदी का मानक स्वरूप तैयार और प्रचलित हो चुका था। इसलिए शासकीय मामलों में हिंदुस्तानी-उर्दू को हिंदी के नाम पर प्रचलित नहीं किया जा सकता है। मौलाना आजाद अपने व्यक्तित्व के कारण शिक्षा विभाग में थोड़ा बहुत काम हिंदुस्तानी में करवा लेते थे लेकिन राजर्षि ऐसे मामलों पर तेज नजर रखते थे। उदाहरण के लिए सरकार ने शब्दकोष बनाने के लिए हिंदुस्तानी कल्चर सोसायटी को काफी धन दिया। उसके अनुवाद को प्रकाशित करने का साहस शिक्षा विभाग में नहीं था लेकिन राजर्षि ने उसके नमूनों को संसद के सामने रखा। इसमें इस प्रकार के शब्द बनाए गए थे–कैबिनेट (खोली)। प्रीमियर (एहलुआ)। बुलेटिन (बतौती) सेटर (बिच बिदी) सेंट्रलाइजेसन (बिचियाना) कन्सालीडेशन (ठेसियाना) सुनीत चाटुर्ज्या की अध्यक्षता में इस अनुवाद की समीक्षा समिति ने इसको "पूर्णतः असंतोषजनक" घोषित किया गया।

यह विचित्र बात थी कि हिंदी के काम के लिए शिक्षा विभाग ने सारे संसाधन कागजी संगठनों को दिए जबकि उस समय तक हिंदी संसार में नागरी प्रचारिणी सभा और हिंदी साहित्य सम्मेलन का सम्मान निर्विवादतः स्थापित हो चुका था। इस पर राजर्षि की चुनौती थी कि ये दोनों संगठन सरकारी सहायता के बिना भी हिन्दी को शीर्ष पर पहुँचा देंगे। स्थिति यह हो गयी थी कि हिंदी सम्बन्धी शासकीय समितियों में भी इन दोनों संगठनों को बहिष्कृत कर दिया गया था। इन समितियों के सदस्यों को वे 'मीरासी' कहते थे। वास्तव में उन्होंने स्वैच्छिक प्रयासों से ही हिंदी को राष्ट्रभाषा के उपयुक्त बना दिया। इस संदर्भ में उनके नेतृत्व में साहित्य सम्मेलन ने इस आंदोलन को दिशा दिया। स्वतंत्रता के पहले तक सम्मेलन कांग्रेस के बाद का सर्वाधिक सक्रिय और और संगठित मंच हुआ करता था। हिंदी का कोई साहित्यकार ऐसा नहीं रहा होगा जिसने इस मंच का उपयोग न किया हो। राजर्षि इसका सम्मेलन भारत के हर भाग में करवाते थे। इस समय में इसके लगभग दो हजार केन्द्र हुआ करते थे। इसने स्नातकोत्कर अध्ययन के लिए साहित्यरत्न की व्यवस्था उस समय की, जब भारतीय विश्वविद्यालय हिंदी की क्षमता को टटोल ही रहे थे। इसने राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों, धर्मपुरुषों, इतिहासकारों और पत्रकारों आदि को भी एकजुट किया। इसके द्वारा प्रदत्त साहित्य वाचस्पति और मंगला प्रसाद पारितोषिक की प्रतिष्ठा भी अधिक थी। विजयेंद्र स्नातक ने लिखा है कि राजर्षि ने सम्मेलन के कार्य को लम्बे समय तक अवैतनिक रखा और पारिश्रमिक के मामले में भी उनका विरोध बहुत उग्र होता था।

राजर्षि ने हिंदी को उस शिखर पर पहुँचा दिया, जहाँ से हिंदी समर्थकों को कभी-कभी अहंकार और आत्मतुष्टि होने लगी। इसका नकारात्मक प्रभाव यह पड़ा कि दक्षिण में ही नहीं, महाराष्ट्र और गुजरात में भी हिंदी के प्रति अरुचि बढ़ने लगी। हिंदी भाषी लोग यह तो चाहते थे कि शेष भारत हिंदी सीखे, जबकि स्वयं हिंदी भाषी अन्य भारतीय भाषाओं को प्रारम्भिक स्तर तक भी सीखने को तैयार नहीं थे। वस्तुतः हिंदी प्रदेशों के ही त्रिभाषा फार्मूले की आत्मा को मार दिया। हिंदी में उच्च स्तर की अध्ययन सामग्री आने का नुकसान यह हुआ कि हिंदी छात्र अंग्रेजी से भी किनारा करने लगे। हिंदी उनके बौद्धिक आलस्य का औचित्य बन गया। हिंदी प्रदेश को "बिमारू" बनाने में इसकी भी भूमिका थी।

18.9 सारांश

इस अध्याय में आपको ज्ञात हुआ होगा कि किस प्रकार से भारतीय राष्ट्रवाद को राजर्षि टंडन ने अपने विचार और व्यक्तित्व से बल दिया। उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी योगदान राष्ट्रभाषा के पद पर हिंदी को स्थापित करने में है। उन्होंने यह कार्य बहुत विपरीत परिस्थितियों में किया। इसके लिए उन्हें पहले अंग्रेजी और उर्दू से और फिर हिंदुस्तानी से और गांधी जी जैसे हिंदुस्तानी समर्थकों से संघर्ष करना पड़ा। इस निर्णायक लड़ाई में वे अंततः सफल रहे। उन्होंने यह संघर्ष केवल राजनैतिक स्तर पर ही नहीं, रचनात्मक-बौद्धिक स्तर पर किया। इस तरह हिंदी में राष्ट्रभाषा बन सकने की बौद्धिक क्षमता भी विकसित हो गयी। उन्होंने समाज के कई पहलुओं पर गम्भीर काम किया, यद्यपि हिंदी के आगे उन सबकी चर्चा कम होती है। उनके समस्त योगदान को उनके प्रखर राष्ट्रवादी विचारधारा से समझा जा सकता है, चाहे वह भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन हो या उत्तराधिकार से माँ और विधवा को वंचित करने का विरोध करने की बात हो। वे एक विचारक थे लेकिन उसके साथ उस विचार के लिए जनान्दोलन खड़ा करने में समर्थ नेता भी थे। इसी कारण से वे गांधी और नेहरू तक से मुकाबला कर सके। भारतीय समाज को उनके योगदान का आभारी होना चाहिए।

18.10 उपयोगी पुस्तकें

(1) शासन पथ प्रदर्शन–(राजर्षि के भाषणों का संकलन)–आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली

(2) राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन–उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ

(3) मुस्लिम सेपरेरिज्म इन यूनाइटेड प्राविन्स–फ्रान्सिस राबिन्सन, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1974

(4) लैंग्वेज, रिलीजन एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इंडिया–पाल आर0 ब्रास,

(5) ए हाउस डिवाइडेड : दि ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ हिंदी/हिंदवी–अमृतराय, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1984।

18.11 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) हिंदू व्यक्तिगत विधि के सम्बन्ध में राजर्षि टंडन के विचार स्पष्ट कीजिए।

(2) राष्ट्रभाषा और राष्ट्रवाद पर राजर्षि टंडन के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

(3) "जहाँ युक्ति नहीं, वहाँ भारतीय संस्कृति नहीं" –राजर्षि टंडन के इस कथन की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) हिंदुस्तानी भाषा पर राजर्षि टंडन की आपत्तियों की विवेचना कीजिए।

(2) चिकित्सा पद्धतियों पर राजर्षि टंडन के विचारों की समीक्षा कीजिए।

(3) अर्थनीति के नैतिक आधार से राजर्षि टंडन का क्या आशय था? स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(1) राजर्षि टंडन चाहते थे कि

(क) राष्ट्रभाषा हिंदी हो, लिपि देवनागरी हो और अंक रोमन हों।

(ख) राष्ट्रभाषा हिंदी, लिपि देवनागरी और अंक रोमन/देवनागरी दोनों हों।

(ग) राष्ट्रभाषा हिंदी हो और लिपि-अंक देवनागरी के हों।

(घ) राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी हो, लिपि देवनागरी और अंक रोमन हों।

(2) इनमें से किस पद पर टंडन जी नहीं थे–

(क) अध्यक्ष, लोक सभा

(ख) अध्यक्ष, विधान सभा

(ग) अध्यक्ष, संयुक्त प्रांत कांग्रेस

(घ) अध्यक्ष, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

18.12 प्रश्नोत्तर

(1) ग

(2) क

Notes

Notes